खण्ड 2

निर्वचन सिद्धान्त एवं देवस्वरूप

खण्ड दो का परिचय

याज्ञवल्क्य स्मृति में कहा गया है-**पुराण-न्याय-मीमांसा-धर्मशास्त्रांगमिश्रिताः। वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश ।। तात्पर्य** यह है कि- पुराण, न्याय, मीमांसा, धर्मशास्त्र, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष और ऋक्, यजुः, साम और अथर्व ये चार वेद- ये चैदह विद्या, धर्म के स्थान हैं। इनमें चार वेद ही मुख्य हैं। पुराण, न्याय, आदि वेद अर्थ का स्पष्टीकरण करने में ही सहायक होते हैं। वेद अत्यन्त गौरवपूर्ण ग्रन्थ रूप में प्रतिष्ठित हैं। महाभाष्यकार पतञ्जलि ने कहा है- 'ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडंगों वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च।' अर्थात्-ब्राह्मण को निष्कारण छः अंगों सहित वेद का अध्ययन करना चाहिए और उसका अर्थ भी जानना चाहिए। सभी जानते हैं कि वेद ज्ञान राशि के रूप में है। इनका अध्ययन करने के लिए शास्त्रों की आवश्यकता होती है। वेद के कठिन शब्दों के अर्थ भी सबको नहीं मालूम होते। कठिनाइयों को दूर करने के लिए ही यास्क निर्वचन सिद्धान्त अपनाया। कठिन शब्दों को परिभाषित करना, उनकी प्रकृति के अनुरूप अर्थ का निर्धारण करना, आदि निर्वचन का ही कार्य है। पाश्चात्य परंपरा में भी शब्दों का विश्लेषण प्राप्त होता है। किन्तु निर्वचन के भारतीय सिद्धान्त तथा देवताओं के स्वरूप के विषय में इस खण्ड में जो चर्चा की गई है, उसके लिए 5 इकाइयों में विस्तार से सरल विधि से वर्णन प्रस्तुत है। विशेष विवेचन के शीर्षक इस प्रकार हैं-

1. निर्वचन की भारतीय परम्परा एवं यास्क का निर्वचन सिद्धान्त
2. मन्त्र एवम् उनके विविध प्रतिपाद्य
3. यास्क के अनुसार पृथ्वी,अन्तरिक्ष,द्युस्थानीय देवताओं का स्वरूप एवं प्रकार
4 देवता आकार चिन्तन
5. अग्नि,वैश्वानर,जातवेदस् ,मातरिश्वन् का स्वरूप निरूपण

उक्तानुसार इन तथ्यों का अध्ययन करने के पश्चात् आप निर्वचन की भारतीय परम्परा के विषय में उल्लेख कर सकेंगे और साथ ही यास्क के द्वारा विभिन्न स्थानीय देवताओं के स्वरूप का वर्णन भी करने में सक्षम हो सकेंगे।

इकाई 1 निर्वचन की भारतीय परम्परा एवं यास्क का निर्वचन सिद्धान्त

इकाई की रूपरेखा

1.0 उद्देश्य

1.1 प्रस्तावना

1.2 यास्क विरचित निरुक्त

1.2.1 निर्वचन की भारतीय परम्परा

1.2.2 यास्क का निर्वचन सिद्धान्त

1.2.3 निर्वचन पद्धति का महत्त्व

1.3 सारांश

1.4 शब्दावली

1.5 अभ्यास प्रश्नों की उत्तरमाला

1.6 सन्दर्भ-ग्रन्थ

1.7 बोध-प्रश्न

1.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन कर लेने के बाद आप :

- यास्क के निर्वचन शैली का सामान्य परिचय दे सकेंगे।
- निर्वचन की भारतीय परम्परा के विषय में आप विश्लेषण कर सकेंगे।
- यास्क के निर्वचन सिद्धान्त का विवेचन कर सकेंगे।
- निर्वचन सिद्धान्त के महत्त्व पर टिप्पणी लिख सकेंगे।
- विषयवस्तु के अनुसार शब्दों के निर्वचन करने में समर्थ हो सकेंगे।

1.1 प्रस्तावना

वेद सम्पूर्ण शास्त्रों में सबसे प्राचीन साहित्य है। आर्य जाति में वेद अत्यन्त गौरवपूर्ण ग्रन्थ रूप में प्रतिष्ठित है। इसी लिए महाभाष्यकार पतञ्जलि ने ब्राह्मणों को अकारण वेद के अध्ययन का निर्देश दिया है - 'ब्राह्मणेन निष्कारणं षडंगों वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च।' याज्ञवल्क्य स्मृति में भी वेद के महत्त्व को इस श्लोक के द्वारा प्रतिपादित किया गया है-

पुराण-न्याय-मीमांसा-धर्मशास्त्रांगमिश्रिता:।
वेदा: स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश।।

इसका अर्थ है कि- पुराण, न्याय, मीमांसा, धर्मशास्त्र, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष और ऋग्, यजुः, साम और अथर्व ये चार वेद- ये चौदह विद्या, धर्म के स्थान हैं। इनमें चार वेद ही मुख्य हैं, क्योंकि पुराण, न्याय, आदि वेदार्थ का स्पष्टीकरण करने में ही सहायक माने जाते हैं।

वेदों का ठीक-ठीक उच्चारण और उनका सही अर्थ समझने के लिए वेदाङ्गों का प्रणयन किया गया है। वेद के छः अङ्ग हैं- शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष। इनमें निरुक्त को वेदपुरुष का श्रोत्ररूप (कानरूप) अङ्ग माना जाता है, क्योंकि निरुक्त के अध्ययन के बिना मनुष्य वेद के सम्बन्ध में कानों के होते हुए भी सुनने योग्य नहीं है। जैसा कि सुनने में असमर्थ के सामने स्वर, ताल आदि के साथ किसी गीत का गान जंगल में रोने के समान होता है उसी प्रकार जिस पुरुष ने निरुक्त नहीं पढ़ा उस पुरुष के आगे किसी मन्त्र का पाठ भी एक तरह से जंगल में रोने के समान ही होगा, वह उसको ठीक तरह से नहीं समझ सकेगा तथा निरुक्त के स्वाध्याय के बिना स्वयं भी वह वेद के अर्थ को नहीं समझ सकता है।

वेद मन्त्रों की व्याख्या आधिभौतिक, आधिदैविक, आध्यात्मिक, याज्ञिक दृष्टि से निर्वचन-पद्धति से की गयी है। सम्पूर्ण वेद देवतावाद पर आधारित है। वे देवता कितने हैं? उनका क्या स्वरूप है? वे चेतन हैं या अचेतन हैं? उनका क्या कर्तव्य है? इत्यादि विषयों की विस्तृत चर्चा निरुक्त में हुयी है। वेद के अर्थ को समझने के लिए, निर्वचन-पद्धति युक्त इस निरुक्त शास्त्र को जानना अत्यन्त आवश्यक है। आप सभी इस इकाई के अन्तर्गत यास्क विरचित निरुक्त के निर्वचन-पद्धति से सम्बन्धित विभिन्न विषयों का अध्ययन करेंगे।

1.2 यास्क विरचित निरुक्त

यास्क विरचित निरुक्त, 'निघण्टु' ग्रन्थ की व्याख्या है। निघण्टु में वेद के कठिन शब्दों को एकत्र किया गया है। यह निघण्टु ग्रन्थ पाँच अध्यायों और तीन काण्डों में विभक्त है। प्रथम तीन अध्याय 'नैघण्टुक काण्ड' कहलाते हैं। चौथा, पाँचवाँ अध्याय 'दैवतकाण्ड' है। निघण्टु पर वर्तमान में एक ही व्याख्या उपलब्ध होती है इसके कर्ता का नाम देवराज यज्वा है।

निघण्टु के बाद निरुक्तों का समय आता है। दुर्गाचार्य के अनुसार निरुक्त संख्या में 14 थे। यास्क द्वारा लिखित निरुक्त में 12 निरुक्तकारों के नाम और उनके मतों का निर्देश दिया गया है। इनके नाम अक्षरक्रम से इस प्रकार हैं- (1) अग्रायण (2) औपमन्यव (3) औदुम्बरायण (4) और्णनाभ (5) कात्थक्य (6) क्रौष्टुकि (7) गार्ग्य (8) गालव (9) तैटीकि (10) वार्ष्यायणि (11) शाकपूणि (12) स्थौलाष्टीवि। तेरहवें निरुक्तकार स्वयं यास्क हैं। इनका निरुक्त छः वेदाङ्गों में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। निरुक्त में बारह अध्याय हैं, अन्त में दो अध्याय परिशिष्ट रूप में दिये गए हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण ग्रन्थ चौदह अध्यायों में विभक्त हैं।

1.2.1 निर्वचन की भारतीय परम्परा

निर्वचन शास्त्र भाषा विज्ञान की एक शाखा है और निरूक्त वेदांङग का अंग है। यह वह विज्ञान है, जो शब्दो के उद्भव तथा इतिहास की खोज करता है।

संस्कृत वाङ्मय के इतिहास में वेद सबसे प्राचीन ग्रन्थ स्वीकार किए गये हैं। अतः भारत में निर्वचन की परम्परा का आरम्भ वैदिक संहिता उसमें भी व्याकरण और भाषा के सम्बन्ध में पर्याप्त संकेत मिलता है । साहिंताओं में अनेक स्थलों पर शब्दों के निर्वचन उपलब्ध होते हैं। उदाहरणार्थ संहिताओं में निम्नलिखित निर्वचन दर्शाये हैं- 'गायन्ति त्वा गासत्रिणः (क.1.10.1);

''यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः (क.10.90.16) केत पूः केतं नः पुनातु (यजु.11.7, साऽप्रथत साप्रथिव्यभवत तत्प्र थिव्यै प्रथिकीत्वम्'' (तै.सं.7.5.1), तीर्थैस्तरन्ति (अधर्व.18.4.7) इन निर्वनों में क्रमशः यज्ञ, गायत्री, केतपू, प्रथिवी, तीर्थ शब्दों का निर्वचन संकेतित है।

निर्वचनों की यह परम्परा इसके बाद ब्राह्मण- ग्रन्थों,आरण्कों तथा उपनिषदों में भी दिखाई पड़ती है। उदाहरण के लिए कतिपय निर्वचन देखे जा सकते हैं, विश्वस्थ हवे मित्रं विश्वा मित्रः (ऐत.ब्रा.29.5) तज्जाया जाया भवति यदस्यां जायते पुनः (ऐत.ब्रा.3.31), य एभ्यो यत्रं प्रारोचायत्तस्मात्पुरोडाशः पुररेदाश हवै नामै तद्यत्पुरोडाश इति (शत.ब्रा.1.51.5.), अशीर्यत इठि शरीरम् (ऐतरेयारण्यक, 2.1.4) इयं वै पूषयंहीदं सर्वं पुष्यति यदिदं किञ्च'' (बृहदा.उप.1.4.13) , एतम् एवाङिगरस मन्यतेऽगानां यद्रसः (छान्दो.उप. 1.2.10) आदि में क्रमशः विश्वामित्र, जौया, पुरोडाश, शरीर, पूषा, आङिगरस (प्राण) शब्द के निर्वचन दिये गये हैं।

निर्वचनों की यह परम्परा अध्याय यास्क तथा सतत चलती रही है इसी लिए निरुक्तकार स्थान-स्थान पर ब्राह्मणगत निर्वचनों को उद्धृत करते हैं, जैसे, 'यद् अवृणोत् तद् वृत्रस्य वृत्रत्वमिति विज्ञायते', 'यदवर्धत तद् वृत्रस्य वृत्रत्वमिति विज्ञायते।' 'तद् यदाभिर्वृत्रमशकद् हन्तुं तच्छक्वरीणां शक्वरीत्वमिति विज्ञायते' इत्यादि। ब्राह्मण-काल के बाद निर्वचन विज्ञान पर ग्रन्थ लिखे जाने लगे। यास्क ने अपने निरुक्त में अनेक नैरुक्तों की चर्चा की है, जो लगभग 12 हैं। यास्क सबसे अन्तिम निर्वचनशास्त्रप्रणेता थे। अतः यास्क से पहले निर्वचन-परम्परा अत्यन्त विकसित हो चुकी थी।

ऋग्वेद के भाष्य में निघण्टु-भाष्य के वचनों का निर्देश किया है जो देवराज यज्वा के भाष्य में थोड़े पाठान्तर से उपलब्ध होते हैं । यह बात आप सभी समझ चुके हैं कि निर्वचन की परम्परा ऋग्वेद से ही प्रारम्भ हो चुकी थी। देवराज ने अपने भाष्य के उपोद्धात में क्षीरस्वामी तथा अनन्ताचार्य की 'निघण्टु व्याख्याओं का उल्लेख किया है। क्षीरस्वामी 'अमरकोश' के प्रसिद्ध टीकाकार हैं। 'निघण्टु व्याख्या' से देवराज का अभिप्राय इसी अमरकोश की व्याख्या से प्रतीत होता है। इस भाष्य का नाम 'निघण्टु निर्वचन' है। अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार देवराज ने नैघण्टुक काण्ड का ही निर्वचन अधिक विस्तार के साथ किया है। इस प्रकार यह ज्ञात होता है कि निर्वचन की भारतीय परम्परा वैदिक संहिताओं से प्रारम्भ होकर ब्राह्ममण-ग्रन्थ, ओर वयक, उपनिषद आदि से होती हुई आचार्य यास्क

के पूर्ववर्ती नैसभ्त्रों तथा यास्क तक निरन्तर चलती रही। परन्तु आज आचार्य यास्क के निरूक्त के अतिरिक्त पूर्ववर्ती किसी भी आचार्य का ग्रन्थ प्राप्त नहीं होता जिनमें इन निर्वचनों के विषय में कुछ ज्ञात हो सके। मन्त्र यास्क ही ऐसे आचार्य हैं जिनके ग्रन्थ में निर्वचन के सिद्धान्तों का विवेचन हुआ है। अतः इस विद्या के लिए यही एक मात्र प्रमाणभूत ग्रन्थ है।

इस प्रकार यहाँ आप सभी ने 'निर्वचन की भारतीय परम्परा' इस विषयवस्तु का भली-भाँति अध्ययन कर लिया है। आइए अब हम अधोलिखित अभ्यास प्रश्नों के माध्यम से अपने पढ़े हुए विषय को जाँचने का प्रयास करते हैं।

अभ्यास प्रश्न-2

1) निर्वचन की भारतीय परम्परा में सर्वप्रथम ग्रन्थ कौन सा है?

   (क) शिक्षा (ख) व्याकरण (ग) ऋग्वेद (घ) निरुक्त

2) किस काल में निर्वचन परम्परा पर्याप्त विकसित हो चुकी थी?

   (क) आरण्यक-काल (ख) ब्राह्मण-काल

   (ग) पौराणिक-काल (घ) व्याकरण-काल

3) निरुक्तकार ने स्थान-स्थान पर किन निर्वचनों को उद्धृत किया है?

   (क) आरण्यकगत (ख) ब्राह्मणगत

   (ग) सूत्रगत (घ) अर्थगत

4) ऋचाओं में किस प्रकार के निर्वचन दिए गए हैं?

   (क) मन्त्ररूप (ख) शब्द-अर्थरूप

   (ग) भाष्यरूप (घ) पद्यरूप

5) सबसे अन्तिम निर्वचनशास्त्र के प्रणेता कौन थे?

   (क) यास्क (ख) शाकल

   (ग) गालव (घ) गार्ग्य

6) 'यास्क से पहले निर्वचनशास्त्र की परम्परा अत्यन्त विकसित हो चुकी थी' - यह कथन है?

   (क) सत्य (ख) असत्य

7) 'ऋग्वेद के भाष्य में निघण्टु-भाष्य के वचनों का निर्देश किया है'- यह कथन है?

   (क) सत्य (ख) असत्य

8) 'यास्क ने अपने निरुक्त में अनेक नैरुक्तों की चर्चा की है'- यह कथन है?

   (क) सत्य (ख) असत्य

9) 'अमरकोश की व्याख्या ही निर्वचन है'- यह कथन है?

(क) सत्य (ख) असत्य

10) 'ब्राह्मण-काल के बाद निर्वचन विज्ञान पर ग्रन्थ लिखे जाने लगे'- यह कथन है?

(क) सत्य (ख) असत्य

11) 'अपनी प्रतिज्ञा अनुसार देवराज ने.....का निर्वचन विस्तार के साथ किया।

(क) नैगम काण्ड (ख) नैघण्टुक काण्ड

(ग) दैवत काण्ड (घ) व्याकरण

12) 'निघण्टु व्याख्या' से अभिप्राय देवराज का .....की व्याख्या से है।

(क) व्याकरण (ख) सूत्र

(ग) अमरकोश (घ) वाचस्पत्यम्

13) क्षीरस्वामी ..... के प्रसिद्ध टीकाकार हैं।

(क) सूत्र (ख) वाचस्पत्यम्

(ग) अमरकोश (घ) व्याकरण

14) देवराज ने अपने भाष्य के उपोद्घात में .....की निघण्टु व्याख्याओं का उल्लेख किया है।

(क) शाकल-बाष्कल (ख) गार्ग्य-गालव

(ग) औपमन्यव क्रौष्टुकि (घ) क्षीरस्वामी-अनन्ताचार्य

15) 'निघण्टु व्याख्या' का नाम .....है।

(क) निरुक्त (ख) भाष्य

(ग) सूत्र व्याख्या (घ) निघण्टु निर्वचन

1.2.2 यास्क का निर्वचन सिद्धान्त

यास्क ने निरुक्त के द्वितीय अध्याय के आरम्भ में निर्वचन के कुछ सिद्धान्त प्रस्तुत किये हैं। प्रायः निरुक्तकारों का यह सिद्धान्त है कि शब्दों की प्रथम प्रवृत्ति किसी न किसी क्रिया के आधार पर ही होती है, अतः आचार्य यास्क ने निर्वचन के सिद्धान्तों के प्रसंग में निर्वच करते समय अर्थ पर दृष्टि रखना आवश्यक माना है- अर्थनित्यः परीक्षेत्र (नि. 2.1) जिससे यह स्पष्ट है कि निर्वचनशास्त्र में शब्दों के उद्भव प्रथा इतिहास का अध्ययन अर्थ की खोज तथा व्याख्या के उद्देश्य से किया जाता है।

इसका तात्पर्य है कि निरुक्तकार शब्द के अर्थ को प्रधान रूप से ध्यान में रखते हुए उसके अनुसार धातु की कल्पना करके ही शब्द का निर्वचन करते हैं। इसी आधार पर निरुक्त में यह सिद्धान्त माना गया है- कि 'सर्वाणि नामानि आख्यातजानि' अर्थात् सारे नाम आख्यात (क्रिया) से उत्पन्न हुए हैं। उदाहरण के लिए 'होतृ' शब्द को लेते हैं। 'होता' ऋग्वेद का ऋत्विज् होता है, यह उसका नाम है। यह मन्त्रों से देवताओं की स्तुति या उनको बुलाता है। निरुक्त 'होतृ' शब्द का निर्वचन 'हु' धातु से नहीं करते, क्योंकि 'हु'

धातु का अर्थ 'दान' और अदन होता है, होता नहीं। तब वे हु धातु से 'तृन्' या 'तृच्' प्रत्यय की कल्पना करके 'होतृ' शब्द बनाते हैं। निरुक्त का यह सिद्धान्त है कि- 'अर्थनित्यः परीक्षेत, न संस्कारमाद्रियेत'। इसका अर्थ है कि-शब्द के अर्थ को दृष्टि में रखकर ही शब्द में प्रकृति और प्रत्यय की कल्पना करें, व्याकरण द्वारा कहे गये संस्कार की परवाह न करें।

आचार्य यास्क ने निरुक्त के द्वितीय-अध्याय में निर्वचन के सिद्धान्त इस प्रकार बतलाये हैं-

1) स्वर संस्कार युक्त, व्याकरण प्रक्रिया के अनुसार निर्वचन-

तद्येषु पदेषु स्वर- संस्कारौ समर्थौ प्रादेशिकेन गुणेनान्वितौ स्यातां तथा तानि निर्ब्रूयात्। (नि. 2.1) अर्थात्

जिन पदों में स्वर (उदात्त, अनुदात्त, स्वरित), संस्कार (धातु, प्रत्यय, लोप, आगम आदि परिवर्तन) अर्थ के अनुकूल हों अथवा व्याकरण प्रक्रिया से जो युक्त हों उनका उसी प्रकार निर्वचन कर लेना चाहिए।

2) अर्थ को मुख्य मानकर निर्वचन -

अथानन्वितेऽर्थेऽप्रादेशिके विकारेऽर्थनित्यः परीक्षेत केनचिद् वृत्ति मान्येन। अर्थात् जब स्वर तथा व्याकरण की प्रक्रिया शब्द के अर्थ के अनुकूल न हो, उचित धातु का विकार भी न हो तब उसके अर्थ को आधार मानकर शब्द के अवयवों के अर्थ तथा समूचित अर्थ का न छोड़ते हुए उसकी (कृत, तद्धित, धतु, समास) आदि किसी वृत्ति की समानता को देखकर निवेचन कर लिखना चाहिए।

3) अक्षर या वर्ण की समानता को लेकर निर्वचन-

अविद्यमाने सामान्येऽप्यक्षर-वर्ण-सामान्यन्निर्ब्रूयात्।

अर्थात् जहाँ शब्द तथा सम्भावित किसी वृत्ति के अर्थ में कोई भी समानता न हो तो भी वहाँ अक्षर या वर्ण-स्वर-व्यंजन की समानता को लेकर मिलते-जुलते अर्थ वाले उस अक्षर वर्ण से युक्त दूसरे शब्द को समानता के आधार पर निर्वचन करना चाहिए।

4) निर्वचन अवश्य करें

न त्वेव न निर्ब्रूयात्। न संस्कारमाद्रियेत। अर्थात् निर्वचन तो अवश्य करना चाहिए, ऐसा न हो कि निर्वचन न करें। इसके लिए व्याकरण प्रक्रिया (संस्कार) का आदर नहीं करना चाहिए, क्योंकि शब्द के साधुत्व को प्रतिपादित करने वाली सभी वृत्तियाँ (कृत समासादि) संशयग्रस्त होती हैं। अतः व्याकरण की प्रक्रिया को महत्व देना व्यर्थ होता है।

5) उचित रूप में विभक्ति परिवर्तन पूर्वक निर्वचन

यथार्थं विभक्तीः सन्नमयेत। अर्थात्- विभक्तियों को अर्थ के अनुसार बदलकर निर्वचन कर लेना चाहिए।

6) शब्द में होने वाले परिवर्तन के अनुरूप

अर्थात् शब्द में होने वाले विविध परिवर्तन (वर्णागम, वर्णविपर्यय आदि) को दृष्टि में रखते हुए तदनुसार निर्वचन करना चाहिए।

7) एवमेक पदादिन निब्रूयात

अर्थात् भाषा की प्रादर्शिक विशेषताओं को दृष्टिगत करते हुए एक पद अर्थात् असमस्त पद का निर्वचन करना चाहिए।

8) समस्तपदों को तोड़कर पूर्व एवं अपरपद का निर्वचन

अतद्धित समासेष्वेक पर्वसुचानेक पर्वसुच पूर्वम्पूर्वम् अपरमपर प्रविभज्य निब्रुयात- अर्थात् तद्धित और समास से निष्पन्न वरले या एकाधिक शब्दों वाले शब्दों में पहले पहले भाग को और बाद में बाद वाले भाग को तोड़कर उनका निर्वचन करना चाहिए।

9) इक्के-दुक्के अर्थात् प्रकरण से भिन्न अकेले पद का निर्वचन नहीं करना चाहिए- नैकपादानि निब्रूयात

10) अनेकाधिक शब्दों का निर्वचन

जहाँ एक शब्द विभिन्न परिस्थितियों में अनेक अर्थों में प्रचलित हों तो समान अर्थ वाले शब्दों का समान निर्वचन प्रथा भिन्नार्थक शब्दों का भिन्न-भिन्न निर्वचन किया जाना चाहिए। **समानकर्माणि समान निर्वचनानि, नाना कर्माणि चेन्नाना निर्वचनानि।**

इस प्रकार आप सभी ने यास्क के निर्वचन सिद्धान्त के विषय में पर्याप्त अध्ययन कर लिया है। आइए अब हम अधोलिखित अभ्यास प्रश्नों के द्वारा अपने पढ़े हुए विषयों को जाँचने का प्रयास करते हैं।

अभ्यास प्रश्न-3

1) 'पाद' शब्द का क्या अर्थ है ?

(क) सोना (ख) चलना (ग) खाना (घ) पीना

2) श्लोक के चरणों को क्या कहते हैं ?

(क) पाद (ख) अर्थ (ग) शब्द (घ) इनमें से कोई नहीं

3) 'चलना' यह क्या है?

(क) क्रिया (ख) संज्ञा (ग) प्रत्यय (घ) उपसर्ग

4) 'होता' किस वेद से सम्बन्धित है ?

(क) सामवेद (ख) ऋग्वेद (ग) यजुर्वेद (घ) अथर्ववेद

5) 'होतृ' में कौन सा प्रत्यय है?

(क) कृत्य (ख) डीप् (ग) तृच्(घ) डीष्

6) स्वर कितने हैं?

(क) 3 (ख) 5 (ग) 7 (घ) 9

7) 'होतृ' में कौन सी धातु है?

(क) हो (ख) हु (ग) अदन (घ) तृन्

8) निरुक्त में सभी नाम किससे उत्पन्न कहे गये हैं?

(क) निपात (ख) उपसर्ग (ग) संज्ञा (घ) आख्यात

9) आख्यात का क्या अर्थ हैं?

(क) संज्ञा (ख) उपसर्ग (ग) निपात (घ) क्रिया

10) शब्द-अर्थ अलग-अलग होने पर किसको मुख्य समझकर निर्वचन करना चाहिए?

(क) शब्द को (ख) अर्थ को (ग) निपात को (घ) शब्दार्थ को

11) 'व्याकरण प्रक्रिया से युक्त हो तो निर्वचन कर लेना चाहिए'- यह कथन है?

(क) सत्य (ख) असत्य

12) 'स्वर-संस्कार जिन पदों में समर्थ हों, निर्वचन कर लेना चाहिए'- यह कथन है?

(क) सत्य (ख) असत्य

13) 'निर्वचन अवश्य करना चाहिए'- यह कथन है?

(क) सत्य (ख) असत्य

14) 'अक्षर-स्वर-व्यंजन की समानता को लेकर निर्वचन करना चाहिए'- यह कथन है?

(क) सत्य (ख) असत्य

15) 'अश्व' (घोड़े) के चलने में तीव्रता देखी जाती है'- यह कथन है?

(क) सत्य (ख) असत्य

1.2.3 निर्वचन पद्धति का महत्त्व

आचार्य सायण ने निरुक्त के निर्वचन की महत्ता प्रतिपादित करते हुए लिखा है कि 'अर्थाऽवबोधे निरपेक्षतया पदजातं निरुक्तम्'- अर्थात् अर्थ की जानकारी के लिये स्वतन्त्र रूप से जो पदों का संग्रह किया गया है वही निरुक्त कहलाता है। दुर्गाचार्य का मत है कि अर्थ का ज्ञान कराने के कारण यह अङ्ग दूसरे वेदाङ्गों और शास्त्रों में प्रधान है। अतः निरुक्त में शब्दों की व्याख्या अर्थात् बोध के लिए किया गया है जिससे शब्द के यथार्थ का ज्ञान होने पर वेदार्थ का बोध हो सकेगा। शब्द की इस व्याख्या पद्धति में निर्वचन शैली अत्यन्त उपादेय है। निरुक्त का यह सर्वमान्य मत है कि प्रत्येक शब्द किसी न किसी धातु से सम्बन्ध अवश्य रखता है। इसलिए निरुक्तकार शब्दों की निरुक्ति करते हुए तथा धातु के साथ विभिन्न प्रत्ययों का निर्देश करते हुए तदनुसार उसकी व्याख्या करते हैं।

शब्द की निर्वचनपूर्वक व्याख्या से शब्द के अर्थकर विकासादि भी स्पष्ट हो जाता है तथा प्रत्यक्षवृत्ति के अतिरिक्त परोक्ष एवं अतिपरोक्ष वृत्ति से भी निर्वचनपूर्वक शब्दार्थ तक पहुँचा जा सकता है।शब्द निर्वचन एवं अर्थ-निर्वचन के माध्यम से शब्द की व्याख्या समुचित रूप से की जा सकती है, क्योंकि प्रत्येक संज्ञा-पद किसी न किसी धातु से निष्पन्न होता है, भाषा का वह आधार अत्यन्त वैज्ञानिक है। इसी का आजकल नाम भाषा-विज्ञान है। इसकी उन्नति पाश्चात्त्य जगत् में 100 वर्ष के भीतर ही हुई है और वह भी संस्कृत-भाषा के यूरोप देश में प्रचार होने के बाद हुई है। परन्तु वर्तमान समय से लगभग 3000 वर्ष पूर्व वैदिक ऋषियों ने इस निर्वचन विदों के सिद्धान्तों का वैज्ञानिक रीति से निरूपण किया था। अतः किसी भी शब्द के निहितार्थ तक पहुँचने के लिए निर्वचन पद्धति एक वैज्ञानिक एवं तर्कसंगत पद्धति है। अतः वेदार्थावबोध के लिए इस शैली का उपयोगअत्यधिक है। इसी लिए वेदार्थ प्रकाशन में निरुक्त का अधिक योगदान है।

1.3 सारांश

आप सभी ने इस इकाई के अन्तर्गत आचार्य यास्क द्वारा रचित निरुक्त, निर्वचन की भारतीय परम्परा, सिद्धान्त एवं महत्त्व का विशेषरूप से अध्ययन किया। आप सब यह भली-भाँति समझ गए हैं कि वेदमन्त्रों के संरक्षण एवं संवर्धन में सभी छः वेदाङ्गों में निरुक्त का अपना विशिष्ट महत्त्व है। निरुक्त के अनुसार यह स्पष्ट किया गया है कि प्रत्येक शब्द के अर्थ को ध्यान में रखते हुए निर्वचन कर लेना चाहिए। यदि शब्द में प्रकृति और प्रत्यय स्पष्ट हो तो ठीक है, यदि स्पष्ट न भी हो तो व्याकरण नियमों को बिना ध्यान में रखते हुए अर्थ को केन्द्र में रखकर निर्वचन अवश्य करना चाहिए। निरुक्त में शब्दों की जो व्युत्पत्ति या निर्वचन पद्धति बताई गई वही पद्धति आगे चलकर भाषाविज्ञान के उद्गम का मूल आधार बनी। अतः भाषा विज्ञान की दृष्टि से भी निरुक्त वेदांग का योगदान अप्रतिम है। यास्क के निर्वचन सिद्धान्त सम्बन्धित इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आप सभी इससे सम्बन्धित आगे दिए गए बोध-प्रश्नों का उत्तर देने में समर्थ हो सकेंगे।

1.4 शब्दावली

1) **निरुक्ति-** शब्दों की व्युत्पत्ति।
2) **निर्वचन-** प्रकृति-प्रत्यय अथवा अर्थानुसार शब्दों की व्याख्या करना।
3) **नैरुक्ता:-** निरुक्त के अथवा निर्वचन करने वाले आचार्य।
4) **याज्ञिका:-** यज्ञ करने वाले पुरोहित आदि।
5) **निघण्टु-** वैदिक शब्दों का समूह और निघण्टु पर आधारित टीका ग्रन्थ निरुक्त।

1.5 अभ्यास प्रश्नों की उत्तरमाला

अभ्यास प्रश्न क्रम सं0 1- 1 ग, 2 ग, 3 क, 4 ख, 5 क, 6 क, 7 क, 8 क, 9 क, 10 क, 11 क, 12 ख, 13 घ, 14 घ, 15 ग, 16 क, 17 घ, 18 घ, 19 घ, 20 क।

अभ्यास प्रश्न क्रम सं0 2- 1 ग, 2 ख, 3 ख, 4 ख, 5 क, 6 क, 7 क, 8 क, 9 क, 10 क, 11 ख, 12 ग, 13 ग, 14 घ, 15 घ।

अभ्यास प्रश्न क्रम सं0 3- 1 ख, 2 क, 3 क, 4 ख, 5 ग, 6 क, 7 ख, 8 घ, 9 घ, 10 ख, 11 क, 12 क, 13 क, 14 क, 15 क।

1.6 सन्दर्भ-ग्रन्थ

1. यास्क रचित निरुक्त, (1 से 7 अध्याय पर्यन्त) - प्रो0 उमाशंकर शर्मा 'ऋषि', चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, सन् 1961
2. निरुक्तम् (चतुर्दशाध्यायात्मकम्) - महामहोपाध्याय श्रीछज्जूराम शास्त्री, मेहरचन्द लछमनदास पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, सन् 2019
3. वैदिक साहित्य एवं संस्कृति - पद्मभूषण आचार्य बलदेव उपाध्याय, शारदा संस्थान 37 बी0 रवीन्द्रपुरी, दुर्गाकुण्ड, वाराणसी, पंचम संस्करण, 1998 ई0
4. वैदिक साहित्य एवं संस्कृति का स्वरूप -डॉ0 ओमप्रकाश पाण्डेय, प्रकाशन-विश्वप्रकाशन, संस्करण 1994 ई0

1.7 बोध-प्रश्न

1. यास्क रचित निरुक्त का सामान्य परिचय पर प्रकाश डालिए।
2. निर्वचन की भारतीय परम्परा का विस्तारपूर्वक वर्णन कीजिए।
3. यास्क के निर्वचन सिद्धान्त का विश्लेषण कीजिए।
4. निर्वचन सिद्धान्त के महत्त्व पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।
5. निर्वचन प्रक्रिया के किन्हीं दो बिन्दुओं पर संक्षेप में टिप्पणी लिखिए।

इकाई 2 मन्त्र एवं उनके विविध प्रतिपाद्य

इकाई की रूपरेखा

2.0 उद्देश्य

2.1 प्रस्तावना

2.2 छः वेदाङ्गों में निरुक्त

2.2.1 मन्त्रों के स्वरूप

2.2.2 मन्त्रों के विविध प्रतिपाद्य

2.3 सारांश

2.4 शब्दावली

2.5 अभ्यास प्रश्नों की उत्तरमाला

2.6 सन्दर्भ-ग्रन्थ

2.7 बोध-प्रश्न

2.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन कर लेने के बाद आप

- छः वेदाङ्गों में वर्णित निरुक्त का सामान्य परिचय दे सकेंगे।
- मन्त्रों के स्वरूप के विषय में आप विवेचन कर सकेंगें।
- मन्त्रों के विविध प्रतिपाद्य विषयों का विश्लेषण कर सकेंगे।
- मन्त्रों की विशेषताओं पर संक्षिप्त टिप्पणी लिख सकेंगे।
- मन्त्रों के किसी एक वैविध्य का संक्षेप में उल्लेख कर सकेंगे।

2.1 प्रस्तावना

अपौरुषेय अर्थात् पुरुष द्वारा न बने होने से ये वेद ज्ञान-विज्ञान के सागर हैं। वेद के दो भाग हैं- मन्त्र और ब्राह्मण। ऋग्, यजुः साम और अथर्व ये चार संहिताएँ मन्त्रात्मक वेद मानी जाती हैं। जिनमें मन्त्रों की व्याख्या और यज्ञ की विधि आदि बताई गई है। वे ब्राह्मण कहलाते हैं। ब्राह्मण के तीन भाग हैं- ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद्। जिस भाग में कर्मों का विधान है, उपासनाकाण्ड को 'आरण्यक' कहते हैं और ज्ञानकाण्ड को 'उपनिषद्' कहते हैं। वेद वस्तुतः चार हैं-ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद। वेदों की रचना शैली तीन प्रकार हैं- पद्यात्मक, गीत्यात्मक और गद्यात्मक। पद्यात्मक रचना शैली को 'ऋक्' कहते हैं और गीत्यात्मक रचना को साम। इनसे भिन्न गद्यात्मक रचना के लिये 'यजुष्' शब्द का प्रयोग होता है।

मनु ने लिखा है- **'वेदोऽखिलो धर्ममूलम्'** और गीता में लिखा है- **वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः।** दोनों का अर्थ है- समस्त वेद धर्म का मूल है। धर्मविज्ञान वेदों के द्वारा ही हो सकता है, मनु आदि धर्मशास्त्र वेदोक्त धर्म का ही विधान करते हैं। समस्त वेदों द्वारा आत्मा अथवा ब्रह्म को जाना जा सकता है। बिना वेदज्ञान के आत्मज्ञान अथवा ब्रह्मज्ञान नहीं हो सकता है। वेद का अध्ययन करने वाले को वेद के साथ-साथ वेदाङ्ग का भी अध्ययन करना चाहिए।

निरुक्त से सम्बन्धित इस इकाई के अन्तर्गत आप सभी मन्त्र और उनके विविध प्रतिपाद्य विषयवस्तु का विस्तारपूर्वक अध्ययन करेंगे। आइए हम सब क्रम से इन विषयों के बारे में जानते हैं।

2.2 छः वेदाङ्गों में निरुक्त

वेदाङ्गों में निरुक्त का अपना विशेष महत्त्व है। इसमें से वैदिक शब्दों के अर्थ जानने की प्रक्रिया बतलाई गई है। आचार्य सायण ने ऋग्वेदभाष्यभूमिका में स्पष्ट कहा है कि- ''अर्थज्ञान के लिए स्वतन्त्र रूप से जहाँ पदों का समूह कहा गया है, वही निरुक्त है।'' निरुक्त स्वयं निघण्टु नामक वैदिक कोश का भाष्य है, यह आचार्य यास्क द्वारा लिखा गया है। इसलिए निरुक्त गद्यशैली में दिखलाई देता है। निघण्टु में मात्र शब्दों को गिनाया गया है ये अमरकोश की शैली में हैं। निघण्टु- इन अर्थ तक पहुँचने की चेष्टा की। अर्थज्ञान के लिए वे उस शब्द से सम्बद्ध धातु तथा उसके अर्थ का आश्रय लेते हैं। यही निरुक्त की आधारशिला है। निघण्टु के पाँच अध्यायों की व्याख्या आचार्य यास्क ने बारह अध्यायों में की है। अन्तिम के शेष दो अध्याय तेरहवाँ और चौदहवाँ परिशिष्ट रूप में है।

यास्क ने निरुक्त में निघण्टु के सभी शब्दों की व्याख्या नहीं की है- यह ऊपर की उक्ति से स्पष्ट है। पर्यायवाची शब्दों वाले अध्यायों में तो पूरे पर्याय के समूह, जैसे- 'उदक' के 100 नामों में से केवल किसी एक- 'उदक' शब्द की व्याख्या करके आगे दूसरे शब्द की व्याख्या करते हैं। वैदिक देवताओं के नामों का निर्वचन करने के पूर्व यास्क सप्तम अध्याय में भूमिका के रूप में देवताओं के स्वरूप, भेद, स्वभाव आदि का विश्लेषण कर लेते हैं।

निरुक्त का आरम्भ यास्क के 'समाम्नायः समाम्नातः' से किया है। समाम्नाय का साधारण अर्थ है- संग्रह या पढ़ा गया। पतंजलि अपने महाभाष्य में 'अइउण्' आदि 14 शिवसूत्रों को अक्षर समाम्नाय कहते हैं। वैदिक संहिताओं को आम्नाय कहते हैं, इस प्रकार 'सम्' उपसर्ग के प्रयोग से अर्थ होगा-वैदिक संहिताओं से लेकर किया गया संग्रह। आचार्य यास्क कहते हैं- **'इमं समाम्नायं निघण्टवः आचक्षते'** अर्थात् इस समाम्नाय को लोग 'निघण्टु' कहकर पुकारते हैं। 'निघण्टु' का व्युत्पत्ति अर्थ है- 'अर्थ का द्योतक', 'वेदो' से चुनकर एकत्र किया हुआ', या 'एक साथ कहा गया।'इस प्रकार आप सभी वेदाङ्गों में निरुक्त विषय को भली-भाँति समझ चुके हैं।

अभ्यास प्रश्न-1

1) किस वेदाङ्ग में वैदिक शब्दों का निर्वचन प्राप्त होता है?

(क) शिक्षा (ख) कल्प

(ग) व्याकरण (घ) निरुक्त

2) वैदिक शब्दकोश किसे कहा है?

(क) शिक्षा (ख) ज्योतिष

(ग) छन्द (घ) निघण्टु

3) वैदिक शब्दों को किसमें संग्रह किया गया है?

(क) कल्प (ख) व्याकरण

(ग) छन्द (घ) निघण्टु

4) निघण्टु की शैली किस ग्रन्थ के समान है?

(क) अमरकोश (ख) व्याकरण

(ग) छन्द (घ) ज्योतिष

5) निरुक्त किस शैली में दिखलाई देता है?

(क) पद्यशैली (ख) गद्यशैली

(ग) सूत्रशैली (घ) व्याख्याशैली

6) निघण्टु के पाँच अध्यायों की व्याख्या आचार्य यास्क ने कितने अध्यायों में की है?

(क) 10 (ख) 12

(ग) 14 (घ) 16

7) निघण्टु में 'उदक' के कितने नामों की सूची प्राप्त होगी?

(क) 80 (ख) 90

(ग) 100 (घ) 110

8) निरुक्त में देवताओं के स्वरूप का वर्णन किस अध्याय में हुआ?

(क) चौथे (ख) पाँचवें

(ग) सातवें (घ) आठवें

9) पतञ्जलि ने महाभाष्य में किनको अक्षर समाम्नाय कहा है?

(क) 14 शिव सूत्रों को (ख) 4 अन्तःस्थ को

(ग) आभ्यन्तर प्रयत्न को (घ) बाह्य प्रयत्न को

10) 'समाम्नाय' में कौन-सा उपसर्ग है?

(क) सम् (ख) अण्

(ग) उप (घ) कम्

11) इस 'समाम्नाय' को लोग 'निघण्टु' कहकर पुकारते हैं'- यह कथन है?

(क) सत्य (ख) असत्य

12) 'वैदिक संहिताओं को आम्नाय कहते हैं'- यह कथन है?

(क) सत्य (ख) असत्य

13) 'यास्क ने निघण्टु के शब्दों के अर्थ को जानने की चेष्टा की'-यह कथन है?

(क) सत्य (ख) असत्य

14) 'यास्क अर्थज्ञान के लिए शब्द के धातु और अर्थ का आश्रय लेते हैं'- यह कथन है?

(क) सत्य (ख) असत्य

15) 'यास्क ने निघण्टु के सभी शब्दों की व्याख्या नहीं की है'- यह कथन है?

(क) सत्य (ख) असत्य

2.2.1 मन्त्रों के स्वरूप

निरुक्तशास्त्र के बिना मन्त्रों का अर्थज्ञान नहीं होता है। अर्थ को न जानते हुए मनुष्य को शब्दों के स्वर तथा व्याकरण प्रक्रिया का भी निश्चित ज्ञान नहीं हो पाता । इसलिए इस निरुक्तशास्त्र को व्याकरण का विद्यास्थान या व्याकरण का ज्ञान कराने वाला कहा गया है। यह निरुक्त वेद का अर्थ ज्ञान कराने वाला साधक है।

आचार्य यास्क ने निरुक्त में मन्त्रों के स्वरूप की चर्चा विभिन्न दूसरे आचार्यों के विचार के अनुसार की है । आइए हम सब इसे पूर्वपक्ष के प्रश्नों का उत्तरपक्ष के उत्तर द्वारा समझते हैं-

पूर्वपक्ष	उत्तरपक्ष
(1) आचार्य कौत्स कहते हैं कि- निरुक्त मन्त्रों का अर्थज्ञान कराने वाले हैं तो यह उचित नहीं है क्योंकि ये मन्त्र स्वयं अर्थहीन हैं। क्योंकि इन मन्त्रों में हम लौकिक भाषा के समान उलट-फेर नहीं कर सकते और न इसके शब्दों की जगह इनके पर्यायवाची नहीं रख सकते हैं। जैसे- 'अग्न आयाहि वीतये' में 'विभावसो! आगच्छ' ऐसा पर्याय नहीं रख सकते हैं और न ही इनका क्रम बदल सकते हैं।	(1) आचार्य कौत्स का उत्तर देते हुए यास्क कहते हैं कि- आप यह कहते हैं कि ये मन्त्र निरर्थक हैं, क्योंकि ये निश्चित शब्दरचना और निश्चित क्रम वाले होते हैं। तो यह उचित नहीं है, क्योंकि लौकिक भाषा में भी यह निश्चित देखा जाता है, जैसे- 'इन्द्राग्नी', 'पितापुत्रौ'। इसलिए वेदमन्त्रों के निरर्थक होने का आपका यह प्रश्न निराधार है।
(2) **दूसरा प्रश्न यह है कि- मन्त्रों का अपना कोई स्वरूप या चिह्न नहीं होता है। अमुक मन्त्र का प्रयोग कहाँ होगा ये ब्राह्मण वचनों या ग्रन्थों द्वारा बताया जाता है। जैसे- 'उरु प्रथस्वोरु ते यज्ञपतिः प्रथताम्' इत्यादि मन्त्र का प्रयोग 'इति प्रथयति' ऐसा ब्राह्मण वचन द्वारा पता चलता है कि इस मन्त्र का प्रयोग प्रथन क्रिया में होगा।**	(2) **इसका उत्तर यह है कि- मन्त्र स्वयं अपने स्वरूप को व्यक्त करते हैं। ब्राह्मण ग्रन्थ या वचन तो मात्र उन मन्त्रों का अनुवाद करते हैं, कोई दूसरा विधान या प्रयोग नहीं बतलाते हैं।**
(3) तीसरा प्रश्न है कि- यह मन्त्र असंगत अर्थ वाले होते हैं। जैसे- 'ओषधे त्रायस्वैनम्'।	(3) इसका उत्तर यह है कि- ये मन्त्र संगत नहीं हैं। 'आम्नायवचनात्' वेद को प्रमाण मानना

अर्थात्- हे ओषधे! इस वृक्ष की रक्षा कर। 'स्वधिते मैनं हिंसीः' अर्थात्- हे खड्ग! इस पशु को मत मार। यहाँ ओषधि और तलवार जैसे निर्जीव वस्तुओं से बात कही जा रही है।	चाहिए। वेद से बढ़कर अन्य कोई प्रमाण नहीं है।
(4) ये मन्त्र परस्पर विरुद्ध अर्थ वाले होते हैं। जैसे- 'एक एव रुद्रोऽवतस्थे न द्वितीयः।' अर्थात्- एक ही रुद्र है, दूसरा कोई नहीं। 'असंख्याताः सहस्राणि ये रुद्रा अधि भूम्याम्' अर्थात्- इस पृथ्वी पर असंख्य हजारों की संख्या में रुद्र हैं। इस प्रकार यहाँ दो विपरीत अर्थ दिखाई देता है।	(4) इसका उत्तर यह है कि- ये मन्त्र परस्पर विरोधी अर्थ वाले नहीं होते हैं। महिमाशाली होने से देवताओं में एक के अनेक हो जाने की शक्ति है। दैवतकाण्ड में- 'महाभाग्याद्देवतायाः' इत्यादि के द्वारा देवताओं की अद्भुत शक्ति स्वीकार की गयी है।
(5) पाँचवाँ हेतु यह है कि- वेद को जानने वाले को वेद-मन्त्र आज्ञा देता है। जैसे- 'अग्नये समिध्यमानाय अनुब्रूहि' अर्थात् प्रज्वलित अग्नि के लिए मन्त्रोच्चारण करो। ये साधारण बात है कि प्रदीप्त अग्नि में ही आहुति देते समय मन्त्र बोला जाता है।	(5) इसका उत्तर यह है कि- वेद जानने वाले को ही वेद आज्ञा देता है। यह लोक में भी देखा जाता है कि-जानते हुए अतिथि को यह कहा जाता है कि मधुपर्क स्वीकार कीजिए।

इस प्रकार मन्त्रों के स्वरूप को जानने के लिए आचार्यों के मतों को पूर्वपक्ष प्रश्न रूप में प्रस्तुत करते हुए आचार्य यास्क ने मन्त्रों की सार्थकता को स्पष्ट किया है। यह उक्ति उद्धृत है- **'नैष स्थाणोरपराधो यदेनमन्धो न पश्यति। पुरुषापराधः स भवति।'** अर्थात्- यह स्थाणु- ठूँठे या खूँटे का अपराध नहीं जो इसको अन्धा नहीं देखता और ठोकर खाकर गिर जाता है। इसी प्रकार मन्त्रों के स्वरूप को जानने का दोष पुरुष में है, शास्त्र या मन्त्र का दोष नहीं है। क्योंकि मनुष्य की बुद्धि में शक्ति नहीं कि वह मन्त्र या शास्त्र को समझ सके।

आप सभी ने 'मन्त्रों के स्वरूप' इस विषयवस्तु को ठीक प्रकार के अध्ययन कर समझ चुकें हैं। आइए अब हम अभ्यास प्रश्नों के माध्यम से अपने पढ़े हुए विषय को जाँचने का प्रयास करते हैं।

अभ्यास प्रश्न-2

1) निरुक्तशास्त्र को व्याकरण का क्या कहा गया है?

(क) विद्यास्थान (ख) धर्मस्थान

(ग) अर्थस्थान (घ) मोक्षस्थान

2) 'मन्त्र अर्थहीन हैं'- यह किन आचार्य ने कहा ?

(क) गार्ग्य (ख) कौत्स

(ग) गालव (घ) यास्क

3) 'मन्त्रों की शब्दरचना के समान लौकिक शब्दरचना भी देखी जाती है'- यह किसने कहा?

(क) आचार्य कौत्स (ख) आचार्य गार्ग्य

(ग) आचार्य यास्क (घ) आचार्य औपमन्यव

4) मन्त्रों का अनुवाद रूप आचार्य यास्क ने किसको कहा है?

(क) सूत्र (ख) ब्राह्मण-वचन

(ग) अर्थ (घ) पद

5) 'इति प्रथयति'- यह क्या कहलाता है?

(क) संग्रह क्रिया (ख) प्रथन क्रिया

(ग) विग्रह क्रिया (घ) मुख्य क्रिया

6) वेद क्या माना गया है?

(क) निरर्थक (ख) असंगत

(ग) प्रमाण (घ) अस्पष्ट

7) 'महाभाग्याद्देवतायाः' द्वारा क्या बतलाया गया है?

(क) देवताओं की शक्ति (ख) अर्थ की असंगता

(ग) निर्जीवता (घ) इनमें से काई नहीं

8) वेद जानने वाले को वेद क्या देता है?

(क) असंगता (ख) निरर्थकता

(ग) आज्ञा (घ) अस्पष्टता

9) जानते हुए अतिथि को क्या स्वीकार करने को कहा जाता है?

(क) मधुपर्क (ख) अनिद्रा

(ग) अस्पष्टता (घ) इनमें से कोई नहीं

10) अपने स्थान पर स्थित खूँटें को न देख पाना किसका दोष है?

(क) खूँटे का (ख) स्थाणु का

(ग) ठूँठ का (घ) अन्धे मनुष्य का

11) 'मन्त्रां में हम लौकिक भाषा का उलट-फेर नहीं कर सकते'- यह कथन है?

(क) सत्य (ख) असत्य

12) मन्त्रों के शब्दों का क्रम निश्चित होता है'- यह कथन है?

(क) सत्य (ख) असत्य

13) 'लौकिक-भाषा में भी शब्दों का क्रम निश्चित देखा जाता है- यह कथन है?

(क) सत्य (ख) असत्य

14) 'ब्राह्मण वचन मन्त्रों का विनियोग बतलाते हैं दूसरा कुछ नहीं'- यह कथन है?

(क) सत्य (ख) असत्य

15) 'मन्त्रों में परस्पर विरोध होता है'- यह कथन है?

(क) सत्य (ख) असत्य

16) 'देवता अपनी शक्ति से एक या बहुत होते हैं'- यह कथन है ?

(क) सत्य (ख) असत्य

17) 'आचार्य यास्क ने मन्त्रों की सार्थकता को स्पष्ट किया है'- यह कथन है ?

(क) सत्य (ख) असत्य

18) 'प्रज्वलित अग्नि में आहुति दी जाती है'- यह कथन है?

(क) सत्य (ख) असत्य

19) 'निरुक्त व्याकरण प्रक्रिया का ज्ञान नहीं कराता'-कथन है ?

(क) सत्य (ख) असत्य

20) 'वेदाङ्ग पढे बिना मनुष्य वेद को भली प्रकार जान सकता है'-यह कथन है?

(क) सत्य (ख) असत्य

2.2.2 मन्त्रों के विविध प्रतिपाद्य

आचार्य यास्क कहते हैं कि जिन मन्त्रों में देवताओं के जो नाम हैं उस नाम से जो स्तुति की गई है उसका वर्णन निरुक्त के दैवतकाण्ड में हुआ है। जिस वस्तु की कामना करता हुआ ऋषि जिस देवता की स्तुति करने पर, कामना की गई वस्तु का स्वामी हो जाता है, ऐसे स्तुति किये गये मन्त्र उस देवता का होता है। इस प्रकार की ऋचाएँ (मन्त्र) तीन प्रकार के होते हैं- **परोक्षकृताः। प्रत्यक्षकृताः। आध्यात्मिक्यश्च।** अर्थात्- परोक्षकृत मन्त्र, प्रत्यक्षकृत मन्त्र और आध्यात्मिक मन्त्र। इनके विविध प्रतिपाद्य इस प्रकार हैं-

1) परोक्षकृत मन्त्र- जो परोक्ष रूप से किसी मन्त्र के अर्थ को बतलाये, वह परोक्षकृत मन्त्र होते हैं। इनमें मन्त्र सम्पूर्ण नाम विभक्तियों तथा तिङन्त के प्रथम पुरुष से युक्त होते हैं। प्रत्येक विभक्ति का उदाहरण है-

i) 'इन्द्रो दिव इन्द्र ईशे पृथिव्याः'। (ऋग्वेद 10/89/10) अर्थात्-इन्द्र द्युलोक, पृथिवीलोक का स्वामी है। यहाँ 'इन्द्र' प्रथमा विभक्ति में है। 'ईशे' यह प्रथम पुरुष का है।

ii) 'इन्द्रमिद् गाथिनो बृहत्'। (ऋग्वेद 1/7/1) अर्थात्- हे सामगायन करने वाले! इन्द्र की ही बृहत् उत्तम गान द्वारा स्तुति करो। यहाँ 'इन्द्रम्' द्वितीया विभक्ति में है।

iii) 'इन्द्रेणैते तृत्सवो वेविषाणाः'। (ऋग्वेद 7/18/15) अर्थात्- इन्द्र से मेघ बार-बार व्याप्त होते हुए दौड़ रहे हैं। यहाँ 'इन्द्रेण' तृतीया विभक्ति में है।

iv) 'इन्द्राय साम गायत'। (ऋग्वेद 8/98/1) अर्थात्-इन्द्र के लिए सामगान करो। यहाँ 'इन्द्राय' चतुर्थी विभक्ति में है।

v) 'नेन्द्रादृते पवते धाम किञ्चन'। (ऋग्वेद 9/69/6) अर्थात्- इन्द्र के बिना किसी भी स्थान को पवित्र नहीं करता है। यहाँ 'इन्द्रात्' में पंचमी विभक्ति है।

vi) 'इन्द्रस्य नु वीर्याणि प्र वोचम्'। (ऋग्वेद 1/32/1) अर्थात् इन्द्र के पराक्रमों का वर्णन करता हूँ।

यहाँ 'इन्द्रस्य' में षष्ठी विभक्ति है।

vii) **'इन्द्रे कामा अयंसत'।** अर्थात्-जितनी कामनायें हैं सब इन्द्र में ही हैं। यहाँ 'इन्द्रे' में सप्तमी विभक्ति है।

2) **प्रत्यक्षकृत मन्त्र-** जो प्रत्यक्षरूप से किसी अर्थ को बतलाएँ, वे प्रत्यक्षकृत हैं। ये मन्त्र मध्यमपुरुष और 'त्वम्' इस सर्वनाम से संयुक्त रहते हैं।

त्वमिन्द्र बलादधि- (ऋग्वेद 10/153/2) अर्थात्- हे इन्द्र! तुम बल से पैदा हुआ है।

यहाँ स्तुति करने वाला प्रत्यक्षकृत होता है और स्तुत देवता परोक्ष हो जाता है।

3) **आध्यात्मिक मन्त्र-** जिन मन्त्रों या ऋचाओं का उत्तम पुरुष से सम्बन्ध है और 'अहम्' इस सर्वनाम से युक्त हैं। वे आध्यात्मिक मन्त्र हैं। जैसे- इन्द्रो वैकुण्ठ सूक्त, लवसूक्त, वागाम्भृणीय सूक्त।

4) **स्तुति युक्त मन्त्र-** कहीं-कहीं मन्त्रों में केवल स्तुति वाले ही मन्त्र हैं। जैसे- 'इन्द्रस्य' नु वीर्याणि प्र वोचम्'। अर्थात्- अब इन्द्र के वीरतापूर्ण कार्यों को कहूँगा। यहाँ इन्द्र की स्तुति की गई है।

5) **आशीर्वादात्मक मन्त्र-** कहीं पर केवल प्रार्थना की गई है। जैसे- 'सुचक्षा अहमक्षीभ्यां भूयासम्। सुवर्चा मुखेन।' अर्थात्- मैं आँखों से, अच्छी तरह देखने वाला, मुख से तेजस्वी हो जाऊँ।

6) **शपथ और अभिशाप वाले मन्त्र-** शपथ वाले मन्त्र का उदाहरण है- 'अद्या मुरीय यदि यातुधानो अस्मि।' अर्थात् यदि मैं राक्षस हूँ तो आज ही मर जाऊँ।

अभिशाप या शाप वाले मन्त्र- का उदाहरण है- 'अधा स वीरैर्दशभिर्वियूयाः' (ऋग्वेद 7/104/15)। अर्थात् वह दुष्ट दस शूरवीर पुत्रों से अलग हो जाए।

7) **तत्त्वज्ञान युक्त मन्त्र-** किसी विशेष भाव की तत्त्वज्ञान की व्याख्या की गई है। जैसे- 'न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि' (ऋग्वेद 10/129/2) अर्थात्- सृष्टि के पूर्व न मृत्यु थी न अमरता।'

8) **परिदेवना (विलाप) वाले मन्त्र-** किसी विशेष भाव से युक्त विलाप वाले मन्त्र भी प्राप्त होते हैं। जैसे- 'न वि जानामि यदि वेदमस्मि' (ऋग्वेद 1/164/37)।

अर्थात्- मैं नहीं जानता हूँ कि मैं ही हूँ- शरीरमात्र।

9) **निन्दा और प्रशंसा वाले मन्त्र-** मन्त्रों में कहीं किसी बात की बुराई दिखाई गई है, कहीं किसी की प्रशंसा। जैसे-(प) 'केवलाघो भवति केवलादी' (ऋग्वेद 10/117/6) अर्थात्- जो स्वयं खाता है किसी को नहीं देता वह मानो पाप को खाता है। यह निन्दा मन्त्र है। (पप) 'भोजस्येदं पुष्करिणीव वेश्म' (ऋग्वेद 10/107/10) अर्थात्- राजा भोज का यह भवन सुन्दर तालाब जैसा है। यह प्रशंसा युक्त मन्त्र है। (पपप) अक्षसूक्त में- द्यूतक्रीडा (जुएं के खेल) की निन्दा और कृषि की प्रशंसा की गई है।

इस प्रकार मन्त्रों में विविध प्रतिपाद्य दिखाई देते हैं। आप सभी 'मन्त्रों के विविध प्रतिपाद्य' इस विषयवस्तु को ठीक प्रकार से अध्ययन कर समझ चुकें हैं। आइए अब हम अभ्यास प्रश्नों के **माध्यम से अपने पढ़े हुए विषय को जाँचने का प्रयास करते हैं।**

अभ्यास प्रश्न-3

1) देवताओं का वर्णन निरुक्त में कहाँ हुआ है ?

(क) नैगमकाण्ड (ख) निघण्टु

(ग) दैवतकाण्ड (घ) इनमें से कोई नहीं

2) सामान्य रूप से निरुक्त में कितने प्रकार के मन्त्र हैं ?

(क) 2 (ख) 3

(ग) 4 (घ) 5

3) परोक्षकृत मन्त्र में सम्पूर्ण नाम किन विभक्तियों में होते हैं ?

(क) तीन (ख) पाँच

(ग) सातों (घ) इनमें से कोई नहीं

4) 'इन्द्र' में कौन-सी विभक्ति है?

(क) प्रथमा (ख) द्वितीया

(ग) तृतीया (घ) चतुर्थी

5) 'इन्द्रम्' में कौन-सी विभक्ति है?

(क) प्रथमा (ख) तृतीया

(ग) द्वितीया (घ) चतुर्थी

6) 'इन्द्रेण' में कौन-सी विभक्ति है?

(क) प्रथमा (ख) द्वितीया

(ग) तृतीया (घ) चतुर्थी

7) 'इन्द्राय' में कौन-सी विभक्ति है?

(क) प्रथम (ख) द्वितीया

(ग) तृतीया (घ) चतुर्थी

8) 'इन्द्रात्' में कौन-सी विभक्ति है?

(क) द्वितीया (ख) चतुर्थी

(ग) पंचमी (घ) षष्ठी

9) 'इन्द्रस्य' में कौन-सी विभक्ति है?

(क) तृतीया (ख) चतुर्थी

(ग) षष्ठी (घ) सप्तमी

10) 'इन्द्रे' में कौन-सी विभक्ति है?

(क) चतुर्थी (ख) पञ्चमी

(ग) षष्ठी (घ) सप्तमी

11) आध्यात्मिक मन्त्रों में .....सर्वनाम का प्रयोग होता है।

(क) सः (ख) त्वम्

(ग) अहम् (घ) यः

12) प्रत्यक्षकृत मन्त्र में ..... सर्वनाम का प्रयोग होता है।

(क) प्रत्यक्ष (ख) त्वम्

(ग) अहम् (घ) सर्वः

13) प्रत्यक्षकृत मन्त्र में स्तुति करने वाला..... होता है।

(क) प्रत्यख (ख) परोक्ष

(ग) अनुमान (घ) शब्द

14) 'लवसूक्त'.....मन्त्र है।

(क) परोक्ष (ख) प्रत्यक्ष

(ग) आध्यात्मिक (घ) निन्दा

15) स्तुति मन्त्र में .....की स्तुती होती है।

(क) मनुष्य (ख) वस्तु

(ग) देवता (घ) इनमें से कोई नहीं

16) 'सुवर्चा मुखेन' यह.....मन्त्र है।

(क) स्तुति (ख) प्रशंसा

(ग) आशीर्वादात्मक (घ) शपथ

17) 'न मृत्यु आसीत्' यह .....मन्त्र है।

(क) शाप (ख) प्रशंसा

(ग) स्तुति (घ) तत्त्वज्ञान युक्त

18) 'अक्षसूक्त' में ..... की निन्दा और प्रशंसा है।

(क) स्तुति (ख) द्यूतक्रीडा एवं कृषि

(ग) अभिशाप (घ) इनमें से कोई नहीं

19) परिदेवना वाले मन्त्र का अर्थ .....है।

(क) स्तुति (ख) प्रशंसा

(ग) आशीर्वाद (घ) विलाप

20) 'दस वीर पुत्रों से अलग हो जाए' ये..... का भाव है।

(क) प्रशंसा (ख) विलाप

(ग) अभिशाप (घ) आशीर्वाद

2.3 सारांश

इस इकाई के अन्तर्गत आप सभी ने मन्त्र एवं उनके विविध प्रतिपाद्य विषयों के बारे में विस्तृत अध्ययन किया। आप इस विषयवस्तु से भली-भाँति परिचित हुए कि मन्त्रों में विविध विषयों का प्रतिपादन है। ऋषियों के मन में मानवीय जीवन से सम्बन्धित विषयों को लेकर अनेक विचार उत्पन्न हुए उन विचारों को मन्त्र रूप में देखा जा सकता है। ये मन्त्र ऋषियों को दृष्ट अर्थात् दिखाई दिए। ऋषियों ने मन्त्रों की रचना नहीं की है। वेद मंत्रों को समझने में वेद के अङ्ग-शिक्षा कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष हैं। इन छः वेदाङ्गों में निरुक्त का महत्त्वपूर्ण स्थान है। निरुक्त वेदपुरुष के कान कहे गये हैं। सामान्य रूप में यदि मनुष्य में सुनने की शक्ति न रहे तो उसके सामने कुछ भी बोलना व्यर्थ है। इसी प्रकार निरुक्त-शास्त्र को जाने बिना वेद मन्त्रों के अर्थ को नहीं जाना जा सकता है। निरुक्त के द्वारा मन्त्रों के एक-एक पद का निर्वचन कर उसका अर्थ विस्तृत रूप में विवेचित किया गया है जिससे मन्त्रों के वास्तविक अर्थ के बारे में स्पष्ट रूप में जाना जा सकता है। वेद-मन्त्रों के अर्थ को जानकर उनके विनियोग या प्रयोग को देखा जा सकता है।

इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आप सभी इससे सम्बन्धित आगे दिए गए बोध- प्रश्नों का उत्तर देने में समर्थ हो सकेंगे।

2.4 शब्दावली

- **समाम्नातः** - पढ़ा गया।
- **आम्नाय** - संग्रह।
- **निघण्टु** - अर्थ का द्योतक, वैदिक शब्द, एक साथ कहा गया।
- **उदक** - जल।
- **स्थाणु** - ठूँठ या खूँटा।

2.5 अभ्यास प्रश्नों की उत्तरमाला

अभ्यास प्रश्न 1- 1 घ, 2 घ, 3 घ, 4 क, 5 ख, 6 ख, 7 ग, 8 ग, 9 क, 10 क, 11 क, 12 क, 13 क, 14 क, 15 क।

अभ्यास प्रश्न 2- 1 क, 2 ख, 3 ग, 4 ख, 5 ख, 6 ग, 7 क, 8 ग, 9 क, 10 घ, 11 ख, 12 क, 13 क, 14 क, 15 ख, 16 क, 17 क, 18 क, 19 ख, 20 ख।

अभ्यास प्रश्न 3- 1 ग, 2 ख, 3 ग, 4 क, 5 ग, 6 ग, 7 घ, 8 ग, 9 ग, 10 घ, 11 ग, 12 ख, 13 क, 14 ग, 15 ग, 16 ग, 17 घ, 18 ख, 19 घ, 20 ग।

2.6 सन्दर्भ -ग्रन्थ

1. यास्क रचित निरुक्त, (1 से 7 अध्याय पर्यन्त) - प्रो0 उमाशंकर शर्मा 'ऋषि', चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, सन् 1961

2. निरुक्तम् (चतुर्दशाध्यायात्मकम्) - महामहोपाध्याय श्रीछज्जूराम शास्त्री, मेहरचन्द लछमनदास पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, सन् 2019
3. वैदिक साहित्य एवं संस्कृति - पद्मभूषण आचार्य बलदेव उपाध्याय, शारदा संस्थान 37 बी0 रवीन्द्रपुरी, दुर्गाकुण्ड, वाराणसी, पंचम संस्करण, 1998 ई0
4. वैदिक साहित्य एवं संस्कृति का स्वरूप - डॉ0 ओमप्रकाश पाण्डेय, विश्वप्रकाशन संस्करण 1994 ई0

2.7 बोध-प्रश्न

1- छः वेदाङ्गों में वर्णित निरुक्त पर प्रकाश डालिए।
2- मन्त्रों के स्वरूप पर विस्तारपूर्वक वर्णन करिए।
3- मन्त्रों के विविध प्रतिपाद्य विषयों का विश्लेषण करिए।
4- मन्त्रों की वैशिष्ट्य पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।
5- मन्त्रों के किसी एक वैविध्य पर संक्षेप में उल्लेख करिए।

ignou
THE PEOPLE'S
UNIVERSITY

इकाई 3 यास्क के अनुसार पृथ्वी, अन्तरिक्ष द्युस्थानीय देवताओं का स्वरूप एवं प्रकार

इकाई की रूपरेखा

3.0 उद्देश्य

3.1 प्रस्तावना

3.2 यास्क के अनुसार देवता स्वरूप एवं प्रकार

3.2.1 पृथिवी स्थानीय देवता

3.2.2 अन्तरिक्ष स्थानीय देवता

3.2.3 द्युस्थानीय देवता

3.3 सारांश

3.4 शब्दावली

3.5 अभ्यास प्रश्नों की उत्तरमाला

3.6 सन्दर्भ ग्रन्थ

3.7 बोध–प्रश्न

3.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन कर लेने के बाद आप :

- देवताओं के स्वरूप का परिचय दे सकेंगे।
- वेदों में देवताओं के वर्णन को जान सकेंगे।
- प्रमुख वैदिक देवताओं के प्रकार से परिचित हो सकेंगे।
- देवताओं के वैदिक सन्दर्भों को जान सकेंगे।
- प्रमुख वैदिक देवताओं के विषय में जान सकेंगे।

3.1 प्रस्तावना

वैदिक–संहिताओं के अधिकांश मन्त्रों में विभिन्न देवताओं की स्तुति की गयी है। ऋक्परिशिष्ट में जिन मन्त्रों का एकत्र संकलन किया गया है, वह इन वैदिक–संहिता ग्रन्थों के अंश की हैं। अतः ऋक्परिशिष्ट के मन्त्रों में भी वही–वही देवगण हैं जो वैदिक संहिताओं में हैं। इनमें प्रमुख हैं– अग्नि, इन्द्र, सूर्य, सविता, उषा, वरुण, आदित्यगण, अश्विन्, सोम, रात्रि, मण्डूक, वाक् इत्यादि। देवता मानवीय स्वरूप वाले हैं। यास्क देवता की निरुक्ति में कहते हैं– दान, द्योतन तथा दीपन। ये देवता यजमान के कामनाओं की पूर्ति करने वाले, शुभ के उपादन तथा अशुभ के निवारण के निमित्त कार्य करने वाले, भौतिक–जगत् के नियामक–तत्त्व के रूप में हैं।

इन देवताओं के मानव के समान सिर, नेत्र, मुख, नासिका, केश, वक्ष, उदर, अङ्गुली, पाद आदि अङ्गों का वर्णन किया गया है। ये अपने हाथ में वज्र, धनुष आदि शस्त्रों को धारण करने वाले माने गये हैं। इनके वस्त्र दीप्तियुक्त एवं सुनहलें हैं। आभूषण इनको प्रिय हैं, स्वयं को आभूषणों से सुसज्जित करते हैं। इनके रथों को बलशाली

अश्व खींचते हैं।

ये देवता परोपकारी स्वभाव के हैं। ये धन–धान्य तथा अनेक प्रकार के सुख–वैभव के प्रदाता हैं, आरोग्य, वीर–पुत्र एवं विजय को प्रदान करने वाले हैं। ये यजमानों के मित्र है तथा शत्रुओं से रक्षा करते हैं। यही कारण है कि स्तुतिकर्ता इन देवताओं को कभी आपना पिता, कभी भातृरूप, कभी मित्र तथा कभी अपना अधिपति समझते हैं।

ये देवगण नैतिकता एवं सत्यशील स्वभाव वाले हैं। इनका सम्बन्ध ऋत से है। ये नैतिकता तथा सत्य का नित्य अनुसरण करने वाले के मित्र हैं तथा नैतिकता के विरुद्ध आचरण करने वालों को कठोर दण्ड देते हैं। इस कार्य में देवताओं में वरुण–देवता अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रूप में हमारे समक्ष आते हैं।

3.2 यास्क के अनुसार देवता स्वरूप एवं प्रकार

देवता मनुष्यों द्वारा सम्पन्न याज्ञिक अनुष्ठानों में आते हैं। ये स्वर्णिम, देदीप्यमान रथों पर आरूढ़ होकर यजमान के यज्ञानुष्ठानों में आगमन करते हैं। यजमान उन्हें हव्य–पदार्थ प्रदान करते हैं। अग्नि देवता के द्वारा ही सभी देवता हव्य–पदार्थ को ग्रहण करते हैं। इस प्रसंग में निरुक्त में वर्णन प्राप्तव्य है–

यस्यै देवतायै हविर्गृहीतं स्यात् तां मनसा ध्यायेद् वषट् करिष्यन्।।(निरुक्त 8/23)

अर्थात् अनुष्ठान कार्य के उपरान्त 'वौषट्' करने से पहले होतृ नामक ऋत्विज् को जिस देवता के निमित्त अध्वर्यु हविष् ग्रहण करता है उस देवता का मन में ध्यान करना चाहिये।

ऋक्परिशिष्ट के सभी मन्त्र यज्ञ–परक हैं। इनमें स्तुत देवताओं के स्वरूप कथन पूर्व इनके स्थान को निर्धारित किया गया है। ये तीन हैं– पृथिवीस्थानीय, अन्तरिक्षस्थानीय तथा द्युस्थानीय। इन तीन स्थानों में प्राप्त देवगण के अतिरिक्त कुछ भावात्मक देवता भी हैं–

1) पृथिवीस्थानीय– ऋक्परिशिष्ट में पृथिवीस्थानीय देवताओं में अग्नि, बृहस्पति, सोम हैं।
2) अन्तरिक्षस्थानीय– ऋक्परिशिष्ट में अन्तरिक्षस्थानीय देवताओं में इन्द्र, मरुत् हैं। इन्द्र का वर्णन बालखिल्य–सूक्त में अधिक हुआ है।
3) द्युस्थानीय– ऋक्परिशिष्ट में द्युस्थानीय देवताओं में– सूर्य, वरुण, अश्विन्, उषा, सविता, आदित्य हैं।
4) अन्य देवता– त्रिस्थानों के अतिरिक्त भी ऋक्परिशिष्ट में कुछ अन्य देवताओं की स्तुति कीगयी हैं। इनमें–लक्ष्मी, विश्वेदेवा, मण्डूकि, रात्रि, विद्युत, कृत्या, लाक्षा, तार्क्ष्य, कपिञ्जल, मन, प्रजापति, ऋभु, वाक् एवं आप्री देवता हैं।

3.2.1 पृथिवीस्थानीय देवता

i) अग्निदेवता

ऋक्परिशिष्ट में अग्नि–देवता से सम्बन्धित लगभग 50 मन्त्र हैं। प्रैष और निविदों में भी अग्नि–देवता की स्तुति अन्य देवताओं के साथ सम्मिलित रूप से की गयी है। अग्नि पृथ्वीस्थानीय देवता है। ऋग्वेद के लगभग 200 सूक्तों में अग्नि की स्वतन्त्र रूप से स्तुति की गयी है। ऋग्वेद के प्रथम–मण्डल के, प्रथम–सूक्त का प्रथम–मन्त्र का

प्रथम–पद अग्नि को सम्बोधित किया गया है–

अग्निमीडे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्।
होतारं रत्नधातमम्।।(ऋ.सं. 1/1/1)

ऋषियों के अनुसार अग्नि ही सबसे महत्त्वशाली देवता है। कोई भी याग अग्नि के अभाव में अनुष्ठित नहीं किया जा सकता। याग में तीन अग्नियाँ मुख्य होती हैं– गार्हपत्य, आहवनीय था दक्षिणाग्नि। इनमें गार्हपत्य अग्नि तो सदा ही प्रज्ज्वलित रहती है, परन्तु आहवनीय तथा दक्षिणाग्नि को प्रज्ज्वलित बिना किये यज्ञ–याग का सम्पादन असम्भव है। निरुक्तकार यास्क अग्नि का निर्वचन करते हुए कहते हैं–

अग्रणीः भवति। अग्रं यज्ञेषु प्रणीयते। अङ्गं नयति सन्नममानः।
अक्नोपनो भवतीति स्थौलाष्ठीविः। न क्नोपयति न स्नेहयति।।(निरुक्त 7/4)

अग्नि का प्राकृतिक आधार स्पष्ट है। इसके तीन रूप दृष्टिगोचर होते हैं–लकड़ी से उत्पन्न अग्नि (दावाग्नि), जल से उत्पन्न अग्नि (वाडवाग्नि) एवं द्युलोक से उत्पन्न अग्नि (वैद्युताग्नि)। अग्नि को देवताओं में प्रथम कहा गया है–

अग्निरेतु प्रथमो देवतानां सोऽस्याः प्रजां मुञ्चतु मृत्युपाशात्।
तदयं राजा वरुणोऽनुमन्यतां यथेयं स्त्री पौत्रमघं न रोदात्।।
(ऋ.स.खि. 2/11/1)

वे प्रजाओं के लिए जातवेदस् के रूप में हैं–

त्वं तं सुवर्ण आभर दिवस्पुत्रा नि षेदिरे।
अग्निः प्रजानामभवज्जातवेदो विचर्षणे।।(ऋ.सं.खि. 1/5/2)

अग्नि को होता, विभु, वसु, वैश्वानर, प्रजापति और हिरण्यय कहा गया है–

अग्निर्होता विभू वसुर्देवानामुत्तमं यशः।
पुनरग्निः प्रजापतिवैश्वानरो हिरण्ययः।।
देवो अग्निः स्विष्टकृत् सुद्रविणा मन्द्रः कविः सत्यमन्मायजी
होता होतुर्होतुरायजीयानग्ने यान् देवानयाड् याँ अपिप्रेर्ये
ते होत्रे अमत्सत तां ससनुषीं होत्रां देवंगमां दिवि
देवेषु यज्ञमेरयेमं स्विष्टकृच्चाग्निर्होतभूद्वसुवने वसुधेयस्य नमोवाके वीहि।।

अग्निर्देवेद्धः। अग्निर्मन्विद्धः। अग्निः सुषमित्। होता देववृतः। होता मनुवृतः। प्रणीर्यज्ञानाम्। रथीरध्वराणाम्। अतूर्तो होता। तूर्णिर्हव्यवाट्। आ देवो देवान् वक्षत्। यक्षदग्निर्देवो देवान्। सो अध्वरा करति जातवेदाः।। (ऋ.सं.खि. 1/5/3, 4/9/6, 5/5/1)

एक मन्त्र में दृष्ट है कि– विश्वदेवियों की उन्होंने रक्षा की थी इसलिए उन्हें अभयंकर और त्राता आदि कहा गया है–

अग्निस्त्राता शिवो भवद्वरूत्यो विश्वदेव्योः।

द्रविणं पाहि विश्वतः सोमपा अभयंकरः।।(ऋ.सं.खि. 1/5/4)

इसी सूक्त के अगले मन्त्र में उनसे शत्रुओं के मर्मस्थलों पर चोट पहुँचाने की प्रार्थना

ऋषि करता है–

अग्ने निजहि मर्माण्यरातीनां च मर्मणाम्।
दीर्घायुत्वस्य हेशिषे तस्य नो धेहि सूर्य।। (ऋ.सं.खि.1/5/5)

अग्नि का यज्ञ से अन्य देवों की अपेक्षा अधिक सम्बन्ध है। यज्ञ में जहाँ यजमान हविष् लिये है, वहाँ जागृत रहना उनकी प्रकृति है, इसलिये उनसे जागृत होकर ही हवि ग्रहण करने की प्रार्थना की गयी है–

जागर्षि त्वं भुवने जातवेदो जागर्षि यत्र यजते हविष्मान्।

इदं हविः श्रद्दधानो जुहोमि ते पासि गुह्यं नाम गोनाम्।।
(ऋ.सं.खि. 2/3/1)

अग्नि को देवताओं और मनुष्यों दोनों ने ही प्रज्ज्वलित किया है। होता के रूप में उनका वरण भी दोनों ने ही किया है, यज्ञों के वे 'प्राणी' और 'रथी' हैं, सर्वाधिक शीघ्र हवि को पहुँचाने वाले हैं। वस्तुतः यज्ञ उनके बिना नहीं हो सकता।(ऋ.सं.खि. 5/5/1)

वे ही गार्हपत्य के संरक्षक हैं–

इमामग्निस्त्रायतां गार्हपत्यः प्रजामस्यै तिरतु दीर्घमायुः।
अशून्योपस्था जीवतामस्तु माता पौत्रमानन्दमभि वि बध्यतामियम्।।
(ऋ.सं. 2/11/2)

एक मन्त्र में अग्नि के लिये 'क्रव्याद' विशेषण प्राप्तव्य है। ऋषि प्रार्थना करते हुये कहते हैं कि वे मृत्यु को नीचे गिरा दें और दीर्घ जीवन दें–

देवकृतं ब्राह्मणं कल्पमानं तेन हन्मि योनिषदः पिशाचान्।
क्रव्यादो मृत्यूनधरान् पातयामि दीर्घमायुस्तव जीवन्तु पुत्राः।।
(ऋ.सं.खि.2/11/5)

अग्नि को 'गृहपति' 'सुप्रतीक' और 'ज्योतिनिचय' नाम से भी सम्बोधित किया गया है। वस्तुतः वे अपनी तपोवहन से ज्योतिष्मान् हैं–

येदेनं सर्वं जगतो बभूवुर्ये देवा अपि महतो जातवेदाः।
तदिवाग्निस्तपसो ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु।।
(ऋ.सं.खि. 4/11/13)

एक अन्य मन्त्र में अग्नि को और्व, भृगु और जमदग्नि के समान धूमकेतु, उषर्बुध और अग्रमख्य कहा गया है–

ध्रुवमग्निर्नो दूतो रोदसी हव्यवाड् देवाँ आ वक्षदध्वरे।
विप्रो दूतः परिष्कृतो यक्षश्च यज्ञियः कविः।
अप्नवानवदौर्ववदृगुवज्जमदग्निवत्।।(ऋ.सं.खि. 4/9/2)

एक मन्त्र में उनके लिए 'चिकिति' विशेषण आया है, जिसका तात्पर्य है, मानव चेतना को अत्यन्त ऊर्ध्वस्तर पर पहुँचाने वाले। शतम् होने के कारण वे शांति और स्वस्तिकारक भी हैं।(ऋ.सं.खि. 2/13/5)

इस प्रकार ऋक्परिशिष्ट में अग्नि देवता का स्वरूप वर्णित हुआ है।

ii) बृहस्पति देवता

बृहस्पति का प्रथम अंश बृह् (वर्धन) धातु से निष्पन्न 'बृह्' शब्द का षष्ठी एकवचन है। फलतः इस पद का अर्थ है– मन्त्र या प्रार्थना का अधिपति। ऋग्वेद के 11 सूक्तों में स्वतन्त्र रूप से और अन्य दो सूक्तों में इन्द्र के साथ संयुक्त रूप में वर्णित हैं। इनका एक अन्य नाम 'ब्रह्मणस्पति' अर्थात् मन्त्र के पति भी है। वे स्वयं सुवर्ण के समान देदीप्यमान् हैं। बृहस्पति पृथिवीस्थानीय देवता है। ऋक्परिशिष्ट में ये अन्य देवताओं के साथ सम्बन्धित मन्त्रों में दृष्ट हैं। इनका स्वरूप कथन करते हुये कहा गया है कि इनके हाथ में धनुष–बाण तथा सुनहला परशु है। उनके रथ को लाल रंग के घोड़े खींचते हैं और वे दैत्यों का नाश कर गायों को मुक्त कर देते हैं। सब प्रार्थनाओं तथा मन्त्रों का प्रेरक होने से बृहस्पति के बिना यागानुष्ठान का कार्य निष्फल है, अतएव ऋक्परिशिष्ट में बृहस्पति का ध्रुवादि के साथ सम्मिलित रूप से स्तुति करते हुये सौ वर्षों तक जीवन जीने की प्रार्थना ऋषि करते हैं–

धुवैधि पोष्या मयि मह्यं त्वादाद्बृहस्पतिः।
मया पत्या प्रजावती सं जीव शरदः शतम्।।(ऋ.सं. 3/17/1)

बृहस्पति देवता की स्तुति अन्य देवताओं के साथ सम्मिलित रूप से की गयी है। इन्द्र के साथ अधिकतर संयुक्त रूप से प्रशंसित होने के कारण इन्द्र के अनेक विशेषण जैसे–मघवन् तथा वज्री इन्हें प्रकृत्या प्राप्त हैं। इसी कारण गुहा के भीतर छिपी हुयी गायों को बाहर निकालने के कार्य इनसे सम्बन्धित हैं। गायन करने वाले गणों से घिरे हुये बृहस्पति देवता बल नामक असुर को अपने गर्जन से विदीर्ण कर देते हैं, गायों को बाहर निकाल लेते हैं, अन्धकार को दूर भगा देते हैं तथा प्रकाश का आविर्भाव करते हैं। बृहस्पति से भव्य प्रार्थना सुमति की और दानस्तुति की स्वीकृति तथा शत्रुओं से धन के हरण के लिये की गयी है–

बृहस्पत इन्द्र वर्धतं नः सचा सा वां सुमतिर्भूत्वस्मे।
अविष्टं धियो जिगृतं पुरंधीर्जजस्तमर्यो वनुषामरातीः।।
(ऋ.सं.खि. 4/50/11)

ऋक्परिशिष्ट में एक सूक्त में जहाँ ब्रह्म देवता, सविता, सूर्य तथा चन्द्रमा से सम्बन्धित मन्त्र प्राप्त होते हैं उन्हीं में बृहस्पति देवता से भी सम्बन्धित एक मन्त्र सङ्कलित है–

महान्मही अस्तभायद्विजातो द्यां पिता सद्म पार्थिवं च रजः।
स बुध्न्यादाष्ट जनुषाभ्युउग्रं बृहस्पतिर्देवता तस्य सम्राट।।
(ऋ.सं.खि. 3/22/3)

पृथिवीस्थानीय देवता में अग्नि देवता यागानुष्ठान के ऋत्विज् कहे गये हैं इसी प्रकार से बृहस्पति को भी यागानुष्ठान का दिव्य ऋत्विज् माना गया है। ऋक्परिशिष्ट् में ऋक्परिशिष्ट भाग में केवल दो ही प्राप्त होने पर भी देवता निरूपण के उद्देश्य से बृहस्पति देवता अत्यन्त महत्त्वपूर्ण देवता हैं।

iii) सोम देवता

सोम देवता पृथ्वीस्थानीय देवता है। ऋग्वेद के 120 सूक्तों में सोम देवता का वर्णन किया गया है। ऋग्वेद के नवम–मण्डल में स्थूल सोम का वर्णन प्राप्तव्य है। सोम का सम्बन्ध मूजवत् पर्वत से था, इसी पर्वत पर सोम उद्धृत होता है। सोम लता के पीसे हुये भाग 'अंशु', समूची सोम–लता को 'अन्धसू' कहा गया है। सोम सर्वोत्तम औषधि एवं वनस्पतियों का अधिपति है तथा झुकी शाखाओं वाला होता है। ऋग्वेद के नवम–मण्डल में सोम स्तुत होने के कारण यह मण्डल पवमान–मण्डल कहा गया है। सोम का रस रोग को नष्ट करने वाला, दीर्घायु प्रदान करने वाला तथा अमरत्व प्रदाता है। सोम–रस के पीतवर्ण होने के कारण इनके शारीरिक गुण को प्रकाशमान् बताया गया है। सोम–रस अत्यधिक शक्तिशाली है। सोम–रस निकाल–कर यज्ञकार्य में हव्य रूप में देवताओं को प्रदान किया जाता है, साथ ही साथ यजमान को भी पीने को दिया जाता है। सोमरस के पान से अमरत्व की प्राप्ति होती है–

अपाम सोममृता अभूमागन्म ज्योतिरविदाम देवान्।।
(ऋ.सं. 10/34/1)

सोम का रंग बभ्रु, अरुण तथा हरित भी बताया गया है। सोम–रस का यज्ञकार्य में प्रयोग किया जाता है। ऋक्परिशिष्ट के मन्त्रों में सोम और अग्नि की सम्मिलित रूप में स्तुति की गयी है–

होता यक्षदग्नीषोमौ च्छागस्य वपाया मेदसो जुषेतां हविर्होतर्यज।।
होता यक्षदग्नीषोमौ पुरोडाशस्य जुषेतां हविर्होतर्यज।।
(ऋ.सं.खि. 5/7/2 उ,ए)

यही पर सोम स्वतन्त्र रूप से एक मन्त्र में स्तुत हैं। यह मन्त्र भी यज्ञीय प्रधान है–

होता यक्षत्सोममाज्यस्य जुषतां हविर्होतर्यज।।(ऋ.सं.खि. 5/7/12, इ)

सोम अपने उपासकों का धन, धान्य, अश्व इत्यादि भौतिक वस्तुओं को प्रदान करते हैं, शत्रुओं से उनकी रक्षा करते हैं। इस प्रकार सोम देवता का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है।

अभ्यास प्रश्न 1

1) देवता शब्द किस लिङ्ग में है?
   (क) पुल्लिस (ख) स्त्रीलिंग
   (ग) नपुंसकलिंग (घ) उभयलिंग
2) निरुक्त रचना है?
   (क) पाणिनि (ख) पतंजलि
   (ग) यास्क (घ) कात्यायान
3) यास्क के अनुसार देवताओं की कोटियाँ कितने प्रकार की है?
   (क) तीन (ख) चार
   (ग) पाँच (घ) आठ
4) 'अग्रणी भवति' किसकी निरुक्ति है?
   (क) अग्नि (ख) सोम

(ग) पृथिवी (घ) इन्द्र

5) अग्नि देवता की स्तुति कितने सूक्तों में की गयी है–

(क) 200 (ख) 100

(ग) 300 (घ) 400

3.2.2 अन्तरिक्ष स्थानीय देवता

i) मरुद्गण (मरुत्–देवता)

ऋग्वेद के शाकल–संहिता में उद्धृत मरुत–सूक्त के देवता मरुत् हैं। मरुत् से सम्बन्धित 33 सूक्त हैं। मरुत् अन्तरिक्षस्थानीय देवता हैं। मरुतों का एक समूह हैं जिनमें अनेकानेक देवताओं की स्तुति की गयी है। इसलिये इनकी प्रार्थना सदा बहुवचन में की गयी है। ऋक्परिशिष्ट में निविद् और प्रैषाध्याय में मरुत् देवता से सम्बन्धित मन्त्र सङ्कलित हैं। निरुक्त में मरुत का निर्वचन है– **मरुतामितराविणो वा मितरोचिनो वा, महद् द्रवन्तीति वा।(नि. 11/2)**

तात्पर्य है कि– मरुत् तेज गर्जन करते हैं या अत्यधिक चमकते हैं। तीसरे निर्वचन के अनुसार वे तेज गति से दौड़ते हैं।

मरुतों के पिता रुद्र हैं। इसलिये उन्हें रुद्रासः, रुद्रियासः तथा रुद्रसूनवः कहा गया है। मरुतों की माता पृश्नि है, इसलिये मरुतों को 'पृश्निमातरः' कहा गया है। निविद्–मन्त्र में यह विशेषण उद्धृत है–

मरुतो देवाः सोमस्य मत्सन्। सुष्टुभः स्वर्काः। अर्कस्तुभो बृहद्वयसः
शूरा अनाधृष्टरथा। त्वेषासः पृश्निमातरः। शुभ्रा हिरण्यखादयः।।

(ऋ.सं.खि.5/5/9)

मरुतों के गण में न कोई बड़ा है न कोई छोटा। वे सभी समान आयु के हैं–

अज्येष्ठासो अकनिष्ठास एते सं भ्रातरो वावृधुः सौभगाय।।(ऋ.सं. 5/60/5)

मरुत् देवता के गर्जन और वायु के तुमुल ध्वनि का वर्णन मिलता है। उनके प्रभाव के सामने पर्वत तथा द्यावा–पृथिवी काँपते हैं। उनका प्रधान कार्य वृष्टि कराना है और जल बरसाने के समय वे विश्व को अन्धकार से ढक लेते हैं। इन्द्र के साथ इनका सम्बन्ध नितान्त घनिष्ठ है। मरुत देवता रुद्र के पुत्र हैं और रुद्र के समान उनसे भी विपत्तियों से रक्षा की तथा रोगों के निवारण के लिये औषधियों को बरसाने की भी प्रार्थना की गयी है। प्रकृति द्वारा दत्त ऊर्जा का अनुपाततः प्रयोग हमें मरुत् सूक्त में दृष्टिगत होता है। मरुत्–कालावयवों का कदापि अतिक्रमण नहीं करते, क्योंकि ईश्वर द्वारा प्रदत्त काल का नियमित रूप में ग्रहण तथा अनतिक्रमण पर्यावरण के सन्तुलन के लिये आवश्यक है। केवलमात्र कालावयवों की सुनियमितता ही अपेक्षित नहीं प्रत्युत् समस्त प्राकृतिक स्वरूप तथा पर्वत्, समुद्र, नदियाँ आदि सभी का नियमबद्ध होना आवश्यक है, क्योंकि इनके नियमबद्ध एवं सन्तुलित होने से ही मरुत् वर्षा करते हैं–

वपन्ति मरुतो मिहं प्र वेपयन्ति पर्वतान्।
यद् यामं यान्ति वायुभिः।।(ऋ.सं. 8/7/4)

मरुतों के स्वरूप वर्णन में उनके अस्त–शस्त्र का रोचक वर्णन मिलता है। उनके अस्त्र–शस्त्र कान्तियुक्त हैं। इनके कृपाल और भाले विद्युत् के समान कान्तियुक्त हैं।

मरुतों इस प्रकार से ऋक्परिशिष्ट के मन्त्रों में स्तुत मरुद्गण अत्यन्त महत्त्वपूर्ण देवता हैं। ऋषियों ने प्राकृतिक झंझावात से स्वयं की रक्षा हेतु मरुद्गणों की स्तुति मन्त्रों द्वारा की। अतः दैनिक जीवन में यज्ञ आदि में प्रयुक्त होने वाले मरुत् सम्बन्धित मन्त्रों का एकत्र सङ्कलन ऋक्परिशिष्ट में किया गया है।

3.2.3 द्युस्थानीय देवता

i) सूर्य–देवता

ऋक्परिशिष्ट में सूर्य–देवता से सम्बन्धित स्वतन्त्र रूप से 5 मन्त्र प्राप्त होते हैं, जबकि 7 अन्य मन्त्रों में दूसरे देवताओं के साथ सम्मिलित रूप से इनकी स्तुति की गयी है। ऋग्वेद में 10 सूक्तों में सूर्य की स्तुति प्राप्त होती है। द्युस्थानीय और देवताओं में सर्वाधिक स्थूल सूर्य देवता भौतिक सूर्य के साथ घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित हैं। लोकों को प्रकाशित करने वाला सूर्य ही देवता है। इसलिये सूर्य देवता की स्तुति में भौतिक सूर्य की ही विशेषताओं का वर्णन हुआ है। सूर्य का चमत्कार घेरा ऋषियों के लिये विशेष आकर्षण का विषय था। सूर्य देवता का स्वरूप वर्णन नवीनवैदिकसंचयनम् के आधार पर यहाँ उपस्थापित है। (नवीन वैदिक संचयन पृ.सं. 56)

यास्क के अनुसार सूर्य शब्द 'सृ' या 'षु' धातु से निष्पन्न है। उनके अनुसार सूर्य का निर्वचन इस प्रकार है– 'सरते वा सुवतेर्वा' अर्थात् ये अन्तरिक्ष में गति प्रदान करते हैं, लोगों को अपने–अपने कार्यों में प्रेरित करते हैं अथवा वायु के द्वारा ये भूलोक की ओर प्रेरित किये जाते हैं। इसलिये इन्हें सूर्य कहा जाता है।

द्यौ को सूर्य का पिता और अदिति को इनकी माता कहा गया है। कहीं–कहीं उषा को उनकी माता और कहीं पत्नी कहा गया है। 'पुरुषसूक्त' में इनकी उत्पत्ति विराट् पुरुष के नेत्रों से बतलायी गयी है। इसके अतिरिक्त इन्द्र, सोम और धाता को भी सूर्य का जनक कहा जाता है। सूर्य का वाहन रथ है। इरनकी आँख का वर्णन मिलता है, परन्तु वे स्वयं मित्रावरुण के नेत्र कहे गये हैं। वह सब प्राणियों के उनके शोभन तथा अशोभन कार्यों का द्रष्टा तथा मनुष्यों के कर्म का प्रेरक देव, जंगम तथा स्थावर पदार्थों की आत्मा है। 'एतश' नामक एक घोड़ा अथवा 'हरित' नामक सात तेज चलने वाले घोड़े उसके रथ को खींचते हैं।

अनेक मन्त्रों में सूर्य को कभी तो आकाश में उड़ने वाले पक्षी के रूप में, कभी लाल रंग के पक्षी के रूप में, कभी उड़ने वाले गृध्र के रूप में माना गया है। आकाश में चमकता हुआ वह अन्धकार को दूर भगाता है। वह दिनों को मापता है, जीवन को बढ़ाता है। वह रोग, तथा दुष्ट स्वप्नों को दूर भगा देता है। सूर्य को स्थावर तथा जंगम प्राणियों की आत्मा कहा गया है। सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च (ऋ. 1/15/1) इस प्रकार ये स्थावर तथा जंगम प्राणियों में आत्म संचार करते हैं। ये अपने अश्वों को जब रथ से अलग करते हैं तो रात्रि हो जाती है और संसार का समस्त कर्मजाल मध्य में ही रुक जाता है। सूर्य द्वारा ही रात और दिन का नियमन किया जाता है। ये सम्पूर्ण जगत् के स्थिरकर्ता और रक्षक हैं।

सूर्य के विषय में ऋक्परिशिष्ट में कहा गया है कि उन्होंने अपने दिव्य तेज से विपुल विश्व को रोचनशील करने के साथ ही स्वर्ग को भी तेजोमय बनाया है। एक मन्त्र में चन्द्रमा के साथ उनकी प्रशंसा का उल्लेख प्राप्त होता है वे गातुवित्तम हैं, वसुमान हैं, सामचारी हैं। इन देवताओं का व्रत अवर्णनीय है। ये आसमुद्र पृथ्वी पर अपनी रश्मियों का जाल फैलाते हैं–

ता सूर्याचन्द्रमसा गातुवित्तमा महत्तेजो वसुमद्भ्राजतो दिवि।
सामात्मना चरतः सामचारिणा ययोर्व्रतं न वसे जातु देवयोः।।
उभावन्तौ परि यात अर्म्या दिवो न रश्मीस्तनुतोव्यर्णवे।

इस प्रकार सूर्य के उज्ज्वल चरित्र का परिचय प्राप्त होता है। परिदृश्यमान् सूर्य के अनेक कार्य तथा रूप हैं, अतः अनेक नामों से इनकी स्तुति की गयी है– (1) जाज्वल्यमानमण्डल रूप में सूर्य, (2) प्रकृति को प्रकाश देने वाली तथा मैत्रीमय भक्ति के रूप में मित्र, (3) जीवन तथा कार्य के महान् प्रेरक के रूप में सविता, (4) पशुओं के पोषक तथा संरक्षक के रूप में पूषा, (5) आकाश से पृथिवी पर्यन्त तीन पादप्रक्षेपों में व्याप्त हो जाने के रूप में विष्णु, (6) अपने आगमन से ठीक पूर्व आकाश में अनुपम सौन्दर्य युक्त आभा को प्रादुर्भूत करने के रूप में उषा, (7) प्रातः काल में सभी दिशाओं को आलोकित करने के रूप में विवस्वान् के नाम से इनकी स्तुति की गयी है।(नवीन वैदिकसंचयन पृ.सं. 57)

ii) वरुण–देवता

ऋग्वेद के अष्टम–अध्याय के 16 सूक्त वरुण से सम्बन्धित हैं। ऋक्परिशिष्ट के मन्त्रों में वरुण के स्वतन्त्र मन्त्र नहीं प्राप्त होते हैं। 'मित्रावरुण' इस प्रकार से संयुक्त रूप से सम्बन्धित मन्त्र प्राप्तव्य हैं। दो प्रैष–मन्त्रों और एक अन्य मन्त्र में वे मित्र के साथ स्तुत हैं तथा एक सम्पूर्ण सूक्त में इन्द्र के साथ मन्त्र सङ्कलित हैं। वरुण द्युस्थानीय वैदिक देवता हैं।

वरुण दयालु एवं वर्षा के देवता हैं एवं सम्पूर्ण कामनाओं को पूर्ण करने वाले, जगत् का भरण–पोषण करने वाले एवं सबके संरक्षक हैं। यह स्तुति गायक को धन प्रदान करने वाला है। सूर्य, वरुण के नेत्र कहे गये हैं। वह दूर की वस्तुओं को भी देख सकते हैं तथा उनके हजार नेत्रों का उल्लेख है। अपने नेत्र द्वारा वे समस्त भुवनों के भीतर घटित होने वाली घटनाओं का निरीक्षण करते हैं तथा मनुष्यों के हृदय में संचरणशील भावों का भी पूर्ण ज्ञान रखते हैं। वरुण सम्राट् तथा स्वराट् की उपाधि से विभूषित हैं। वे क्षत्र (प्रभुत्व) के अधिपति होने से क्षत्रिय नाम से व्यवहृत किये जाते हैं।

वरुण संसार के नैतिक अध्यक्ष हैं। वरुणदेव नैतिक व्यवस्था का उल्लंघन करने वाले व्यक्ति को कठोर से कठोर दण्ड देते हैं। पापकर्म करने एवं व्रत का उल्लंघन करने पर वे क्रुद्ध भी होते हैं। वे क्रुद्ध होकर पापकर्मी व्यक्ति को अपने भंयकर आयुध का पात्र बनाते हैं। उस व्यक्ति को अपने पाशों में बाँधते हैं। वरुण नैतिकता के विरोधी व्यक्ति को पाशों की मार से दण्डित भी करते हैं। वरुण द्वारा दण्डित को जलोदर का रोग हो जाता है। पापों के फलभोग के लिये वरुण द्वारा दिया गया दण्ड है।

ऋक्परिशिष्ट में वरुण के साथ–साथ मित्र की भी स्तुति संयुक्त रूप से की गयी है। वरुण तथा मित्र दोनों एक साथ रहते हैं। इसलिये ऋग्वेदसंहिता के 23 सूक्तों में दोनों की एक साथ स्तुति उपलब्ध होती है। ऋग्वेद में मित्र–वरुण एक ही रथ पर साथ–साथ आरोहण करने वाले बताये गये हैं–

हिरण्यरूपमुषसो व्युष्टा वयः स्थूणमुदिता सूर्यस्य।
आ रोहथो वरुण मित्र गर्तमतश्चक्षाथे अदितिं दितिं च।।
(ऋ.सं. 5/62/8)

ऋक्परिशिष्ट के एक मन्त्र में मित्रावरुण का वर्णन है–

इमां मे मित्रावरुणौ कृधि चित्तेन व्यस्यताम्।
दत्वा पीत्वाग्रतः कृत्वा यथास्यां देवशो वशे।।

(ऋ.सं.खि. 3/16/4)

वरुण देवता की इन्द्र के साथ सम्मिलित रूप से स्तुत्य मन्त्र एक सूक्त में प्राप्त होते हैं। इन्द्र भौतिक स्तर पर बड़े देवता हैं, उसी प्रकार वरुण नैतिक स्तर पर महनीय देवता हैं। एक मन्त्र में ऋषि इन्द्रा वरुण से प्रार्थना करते हुये कहते हैं कि हम साधकों को सन्तति, पुष्टता तथा वैभव प्रदान करो, दीर्घ जीवन हेतु हमारी आयु में वृद्धि करो–

इन्द्रावरुणा सौमनसमदृप्तं रायस्पोषं यजमानेषु धत्तम्।
प्रजां पुष्टिं रचिमस्मासु धत्तं दीर्घायुत्वाय प्र तिरतं न आयुः।।

(ऋ.सं.खि. 1/6/7)

वरुण का प्रधान कार्य जल की वर्षा करना है। नदियों को प्रवाहित करना इन्हीं के वश में है। ये द्युलोक एवं पृथिवी लोक को स्थिर किये हुये हैं। वे ही अग्नि को जल में, सूर्य को आकाश में तथा सोम को पत्थरों पर स्थान दिये हैं। वे सम्पूर्ण जगत् की रक्षा करते हैं। सूर्य के गमनहेतु मार्ग का निर्माण वरुण ने किया। चन्द्रमा और तारें इनके निर्देश पर ही अपने–अपने कार्यों में संलग्न हैं। ऋतुओं का नियमन भी वरुण द्वारा होता है। वरुण की शक्ति से नदियाँ समुद्र में गिरती हुयी भी समुद्र के जल में वृद्धि नहीं कर पाती। वे सर्वज्ञ हैं। चराचर जगत् पर वरुण का ही साम्राज्य है।

iii) अश्विन–देवता

ऋग्वेद में सूक्तों की संख्या के आधार पर इन्द्र, अग्नि, सोम के पश्चात् विख्यात देवयुग्म अश्विनों का स्थान आता है। इनके सम्बन्ध में ऋग्वेद में लगभग 50 सूक्त तथा 400 से अधिक बार इनका नामोल्लेख हुआ है। अश्विन् द्युस्थानीय देवता हैं। ऋक्परिशिष्ट में इनसे सम्बन्धित स्तुत्य सूक्त 9 हैं, इसके अतिरिक्त 4–5 सूक्तों में वे अन्य देवताओं के साथ स्तुत हैं। अश्विन् का आविर्भाव उषा के प्रारम्भिक काल में होता है। ये दोनों अपने रथ के द्वारा उषा अनुसरण करते हैं। ये भास्वर, युवा, परन्तु पुरातन, शीघ्रगामी, अनेक रूप, सुन्दर, अरुण, शक्तिमान् तथा तीक्ष्ण मेधा–सम्पन्न हैं। 'नासत्य' तथा 'दस्त्रा' इनके अत्यन्त प्रचलित विशेषण हैं।

अश्विन् द्यौस के पुत्र हैं, सिन्धु इनकी माता है। एक मन्त्र में त्वष्टा की पुत्री सरण्यू और विवस्वान् के भी वे पुत्र हैं–

यद्वां माता उप आतिष्ठदुग्रं सुवृद्रथानव्यथेयं सरण्यूः।
तत्र वां माध्वी मध्वाहितं सुनीथं प्रत्नमश्चिनामयोभु।।(ऋ.सं. 1/11/5)

अश्विन् पूषन् के जनक हैं, उषस् उनकी बहन है, कुमारी सूर्या या सूर्य–पुत्री के साथ उनका गहरा सम्बन्ध है–

सुखं रथं शतयावानमाशुं प्रातर्यावाणं सुषदं हिरण्ययम्।
आ तिष्ठद्यत्र दुहिता विवस्वतस्तमेवार्वाञ्चमवसे करामहे।।
ये वामश्वासो रथिरा विपश्चितो वातध्राजिषः सुयुजो घृतश्चुतः।
योभिर्याथ उप सूर्यां वरेयं तेभिर्नो दस्त्रा वर्धतं समत्सु।।

(ऋ.सं.खि. 1/3/2–3)

सूर्य–पुत्री उनकी पत्नी है, उनके साथ रथ पर बैठती है और इसलिये 'अश्विनी' नाम से अभिहित की जाती है। सूर्या सोम की भी पत्नी है। एक मन्त्र में कथि है कि सूर्या–सोम के विवाह में गर्दभों द्वारा खींचे जाते हुये रथ पर बैठकर अश्विनी कुमार एक दौड़ में विजयी हुये–

यद्वां रेतो अश्विना पोषयित्नु यद्रासभो वध्रिमत्यैः सुदानू।
यस्माज्जज्ञे देवकामः सुदक्षस्तदस्यै दत्तं भिषजावभिद्यु।।
(ऋ.सं.खि. 1/3/4)

एक परिशिष्ट–मन्त्र में सूर्या के साथ रासभाश्व रथ पर बैठकर उनसे यज्ञ में आने की प्रार्थना की गयी है–

वासात्यौ चित्रौ जगतो निधानौ द्यावा भूमी शृणुतं रोदसी मे।
तारश्विना रासभाश्वा हवं मे शुभस्पती आगतं सूर्यया सह।।
(ऋ.सं.खि. 1/2/5)

इस प्रकार से अश्विनौ का स्वरूप वर्णन ऋक्परिशिष्ट मन्त्रों में प्राप्त होता है।

iv) उषा

उषा प्रातःकाल की अधिष्ठात्री देवी है जिनकी स्तुति ऋग्वेद में 20 सूक्तों में की गयी है। उनका नाम 200 से अधिक बार आया है। पृथिवी से सम्बद्ध होने पर भी उसे द्युस्थानीय कहा गया है। ऋक्परिशिष्ट में उषा से सम्बन्धित स्वतन्त्र रूप से केवल एक मन्त्र ही प्राप्तव्य हैं। इसके अतिरिक्त कहीं–कहीं अन्य देवताओं के साथ मन्त्र प्राप्त होते हैं।

उषस् शब्द का निर्वचन 'उच्छ' धातु से माना जाता है।(निरुक्त 2/6)
'उच्छतीति सत्याः। 'उच्छी विवासे' विवासयति हीयं तमांसि'।
अर्थात् जो अन्धकार का विनाश करे वह उषा है।

उषा अजर–अमर है। उनका स्वरूप अविनाशी है, वह सुजाता है, अर्थात् उसका जन्म उच्चकुल में हुआ है। अनेक स्थलों पर उषा को प्रतिदिन उत्पन्न होने वाली भी कहा गया है। उषा समस्त जगत् का जीवन है और सभी प्राणियों का प्राण है। उसके प्रकाशित होते ही पक्षी नीड़ों से उड़ जाते हैं तथा मनुष्य अपने कार्यों में प्रवृत्त हो जाते हैं। दुःस्वप्नों को दूर भगा कर प्राणियों को वह नवजीवन देती है। रात्रि के अन्धकार को दूर करती है। उषा को 'मघोनी' कहा गया।

उषा सौन्दर्य की देवी है। यह सौन्दर्य दो प्रकार का है–

भौतिक तथा चारित्रिक। भौतिक सौन्दर्य की दृष्टि से वह युवती, भास्वती, अमृता, अर्जुनी (श्वेतवर्णा), अरुषा (अरुणवर्णा), सप्रतीका इत्यादि कही गयी है। चारित्रिक दृष्टि से वह कल्याण करने वाली (भद्रा), सदा नियम पर चलने वाली (ऋतपा, ऋतावरी), प्रिय तथा सत्य वाणी से युक्त (सूनृतावती, सूनरी) कही गयी है। ऋक्परिशिष्ट में उषा, 'विभावरि' नाम से सम्बोधित है। ऋषि प्रार्थना करते हुए कहते हैं कि उनके द्युलोक की विद्युत् वर्षा करे, जिनसे अङ्कुरित हो, वे ब्रह्मद्वेषी को नष्ट कर दे–

वर्षन्तु ते विभावरि दिवो अभ्रस्य विद्युतः।
रोहन्तु सर्वबीजान्यव ब्रह्मद्विषो जहि।।(ऋ.सं.खि. 2/5/1)

उषा के लिये प्राप्तव्य 'विभावरि' विशेषण कहीं–कहीं 'विभाति' भी प्रयुक्त है। उषा का नियम शाश्वत है, वह अपने मार्ग को कभी नहीं छोड़ती है। ऋत के पथ पर गमन करने से वह 'ऋतजातसत्या' है।

विविध देवताओं से उषा का सम्बन्ध है। वह सूर्य के पथ को यात्रा के लिये प्रकाशित करती है। उषा को 'सूर्यस्य योषा', 'स्वसरस्य पत्नी' इत्यादि कहा गया है। ऋक्परिशिष्ट के एक मन्त्र में सूर्य और के अग्नि साथ उषा की स्तुति की गयी है–

v) सविता देवता

ऋग्वेद में सवितृ की बड़ी महिमा दृष्टिगोचर होती है। ऋक्परिशिष्ट में सवितृ से सम्बन्धित मन्त्र कहीं–कहीं सङ्कलित हैं। ऋग्वेद में यह स्वतन्त्र रूप से 11 सूक्तों द्वारा प्रशंसित है। कुछ अन्य सूक्तों में कतिपय अन्य देवताओं के साथ भी सविता का स्तवन प्राप्त होता है। सविता द्युस्थानीय देवता है। सविता शब्द 'सू' धातु एवं 'तृच्' प्रत्यय से बना है। सू का तात्पर्य 'प्रेरक' होता है।

सविता देवता हिरण्यमय हैं, जिसके हाथ, नेत्र, और जिह्वा सब हिरण्यमय हैं। यह हिरण्मयी देवता स्वर्णयुक्त रथ पर आरूढ़ होते हैं तथा दो शीघ्रगामी चमकीले अश्व इनके रथ को खींचते हैं। सविता देवता विश्व में गति का संचार करने तथा प्रेरक रूप सूर्य के प्रतिनिधि या पथ–प्रदर्शक रूप में हैं–

आ कृष्णेन रजसा वर्तमानो निवेशयन्नमृतं मर्त्यं च।
हिरण्ययेन सविता रथेनाऽऽदेवो याति भुवनानि पश्यन्।।
(ऋ.सं. 1/35/2)

निरुक्त में इनका निर्वचन–**'सविता सर्वस्य प्रसविता।।(नि. 10/3)**

अर्थात् समस्त संसार और कर्मों को प्रेरणा द्वारा उत्पन्न करना सविता का मुख्य कार्य है। यह समस्त प्राणिजगत् को मार्गदर्शन प्रदान करते हैं, सुखदाता हैं। इनका सर्वप्रमुख कार्य रात्रि के गहन अन्धकार को नष्ट करना है तथा समस्त प्राणियों में अपने कार्यों के प्रति ऊर्जा का संचार करना है। इसलिये इन कार्यों को पूर्ण करने के लिये सूर्य का मार्ग सविता देवता प्रषस्त करते हैं। पृथिवी की अष्टदिक्, अन्तरिक्ष, द्युलोक, पृथिवीलोक इन तीनों को तथा सातों नदियों को सविता देवता प्रकाश से परिपूर्ण कर देते हैं। ऋग्वेद के एक मन्त्र में यह तथ्य उद्घाटित है कि तीनों लोकों में से दो लोक द्युलोक और भूलोक सविता के समीप हैं–

वे प्राणिजगत् को प्रेरित करते हैं–

तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि।
धियो यो नः प्रचोदयात्।।(ऋ.सं. 3/62/10)

हम उस सविता देवता के वरणीय या श्रेष्ठ प्रकाश का ध्यान करें जो हमारी बुद्धि को प्रेरित करेगा। वर्तमान में भी सविता देव की इस मन्त्र की उपासना करके अनेकानेक भक्त अपना एवं जगत् का कल्याण कर रहे हैं।

vi) आदित्य देवता

ऋक्परिशिष्ट में आदित्य से सम्बन्धित स्वतन्त्र रूप से कुछ मन्त्र तथा कुछ अन्य देवताओं के साथ सम्मिलित रूप में मन्त्र सङ्कलित हैं। ऋग्वेद में 6 सूक्तों में आदित्य

की स्तुति की गयी है। एक मन्त्र द्वारा स्पष्ट वर्णन इनके विषय में मिलता है–

आदित्या ह जरितरङ्गिरोभ्यो दक्षिणामनयन्।
तां ह जरितर्न प्रत्यायन् तामु ह जरितः प्रत्यायन्।।
(ऋ.सं.खि. 5/20/1)

इस प्रकार आदित्य ने अंगिरावंशज ऋषियों को विस्तृत पुष्कल दक्षिणा में दी थी। आदित्य द्युस्थानीय देवता हैं। आदित्य अत्यधिक बलयुक्त हैं, विश्वरूप, यशस्वी रूप यह यजमान को यश प्रदान करने वाले हैं–

समैक्षिष्योर्ध्वमहस आदित्येन सहीयसा।
अहं यशस्विनां यशो विश्वा रूपाण्या ददे।।

आदित्य, सूर्य के प्रतिरूप माने गये हैं, इसका उल्लेख ऋग्वेद के एक मन्त्र में प्राप्त है। ऋक्परिशिष्ट में सङ्कलित मन्त्र में भी यही बात कही गयी है–

यावदादित्यस्तपति यावद्भ्राजति चन्द्रमाः।
यावद्वायुः ल्पवायति तावज्जीव तया सह।।

आदित्य की स्तुति अन्य देवताओं के साथ भी की गयी है। एक मन्त्र में आदित्य को इन्द्र रूप में अथवा इन्द्र को ही आदित्य कहा गया है। यहाँ पर इन्द्र को चौथा आदित्य कहा गया है–

कदा चन प्र युच्छस्युभे नि पासि जन्मनी।
तुरीयादित्य स्वनं त इन्द्रियमातस्थावमृतं दिवि।।

कुन्तापाध्याय के कुछ सूक्तों के मन्त्रों में इन्द्र को आदित्य रूप में स्वीकार किया गया है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि आदित्य, सूर्य के प्रतिरूप हैं और कहीं–कहीं इन्द्र को भी आदित्य रूप में कहा गया है।

अभ्यास प्रश्न–2

1) सूर्य की स्तुति कितने सूक्तों में की गयी है?
   (क) 05 (ख 08
   (ग) 10 (घ) 12
2) सूर्य कौन से स्थानीय देवता है?
   (क) द्युस्थानीय (ख) अन्तरिक्षस्थानीय
   (ग) आकाश (घ) पृथिवी स्थानीय
3) ऋग्वेद के कितने सूक्तों में आदित्य की स्तुति की गयी है?
   (क) 06 (ख) 04
   (ग) 10 (घ) 12
4) स्त्री–देवता हैं?
   (क) उषा (ख) सूर्य
   (ग) सविता (घ) आदित्य

5) ऋग्वेद के किस मण्डल में सोम की स्तुति की गयी है

(क) तृतीय (ख) अष्टम

(ग) सप्तम (घ) नवम

3.3 सारांश

वैदिक देवताओं के विषय में जानकारी की प्राप्ति वेदों के संहिता भाग से ही प्रारम्भ हो जाती है। ऋक्, यजुः साम, अथर्व संहिता के साथ ही ब्राह्मणग्रन्थों, आरण्यकों उपनिषदों, निरुक्त, बृहद्देवता आदि ग्रन्थों में भी देवता विमर्श विषयक पर्याप्त सामग्री प्राप्त होती है। यास्क ने निरुक्त में 'देवता' शब्द का निर्वचन करते हुये कहा है कि, द्योतन, दान एवं द्युलोक में स्थित होने से देवता होता है एवं देवता पृथिवी स्थानीय, द्युस्थानीय एवं अन्तरिक्ष स्थानीय के भेद से तीन कोटि के होते हैं।

3.4 शब्दावली

- **पृथिवीस्थानीय–** पृथिवी से सम्बन्धित
- **द्युस्थानीय–** द्युलोक से सम्बन्धित
- **अन्तरिक्षस्थानीय–** अन्तरिक्षलोक से सम्बन्धित
- **हविष्–** यज्ञ में आहुति के समय डाली जाने वाली सामग्री
- **याग–** यज्ञ, हवन
- **होता–** यज्ञ में ऋग्वेद का मन्त्र पढ़ने वाला
- **क्रव्याद–** अग्नि
- **स्वस्तिकारक–** कल्याणप्रद
- **ऋत्विज–** यज्ञ से सम्बन्धित मन्त्र पढ़ने वाली पुरोहित
- **यजमान–** यज्ञ के लिये दीक्षित
- **सोमरस–** विशेष प्रकार की लता का द्रव
- **पुरोडाश–** यज्ञ के लिये पकाई जाने वाली विशेष प्रकार की रोटी

3.5 अभ्यास प्रश्नों की उत्तरमाला

अभ्यास प्रश्न–1 1) ख, 2) ग, 3) क 4) क, 5) क।

अभ्यास प्रश्न–2 1) क, 2) क, 3) क, 4) क, 5) घ।

3.6 सन्दर्भ ग्रन्थ

1. वैदिक देवता : उद्भव और विकास – गयाचरण त्रिपाठी, राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान नयी दिल्ली एवं डी. के प्रिंटवर्ल्ड नयी दिल्ली
2. वैदिक देवता एक ऐतिहासिक विवेचन – डॉ. कमला प्रसाद सिंह, संस्कृत प्रकाशन, नाटी इमली, वाराणसी, वर्ष–1983
3. बृहद्देवता (शौनक रचित) – (सम्पा.) प्रो. ओम प्रकाश पाण्डेय, व्याख्यानकर्त्री– डॉ. प्रज्ञा पाण्डेय, चौखम्बा कृष्णदास अकादमी वाराणसी, वर्ष–2011 ई.

4. नवीन वैदिक संचयनम् (न्यू वैदिक सेलेक्शन) – (सम्पा एवं व्याख्याकार) डॉ. जमुना पाठक एवं डॉ. उमेश प्रसाद सिंह, चौखम्बा कृष्णदास अकादमी वाराणसी उ.प्र. वर्ष–2010

3.7 बोध–प्रश्न

1. देवताओं के स्वरूप का परिचय दीजिये।
2. वेदों में उल्लिखित प्रमुख देवताओं का वर्णन कीजिये।
3. देवताओं के प्रकार पर प्रकाश डालिये।
4. देवताओं के विषय में वैदिक सन्दर्भों का उल्लेख कीजिये।

ignou
THE PEOPLE'S
UNIVERSITY

इकाई 4 देवता आकार चिन्तन

इकाई की रूपरेखा

4.0 उद्देश्य

4.1 प्रस्तावना

4.2 यास्क के देवता विषयक विचार

4.2.1 देवता आकार चिन्तन

4.2.3 देवताओं की संख्या

4.2.4 प्रमुख वैदिक देवताओं का स्वरूप–परिचय एवं कार्य

4.3 सारांश

4.4 शब्दावली

4.5 सन्दर्भ–ग्रन्थ

4.6 बोध–प्रश्न

4.0 उद्देश्य

वैदिक देवताओं से सम्बन्धित इस इकाई का अध्ययन कर लेने के बाद आप :

- देवताओं के आकार से सम्बन्धित प्रश्नों का उत्तर दे सकेंगे।
- देवताओं की संख्या जान सकेंगे।
- प्रमुख वैदिक देवताओं से परिचित हो सकेंगे।
- देवताओं के ऐतिहासिक उत्पत्ति एवं विकास को समझ सकेंगे।

4.1 प्रस्तावना

प्रारम्भिक अवस्था में मानव ने स्वयं को ऐसे वातावरण में उपस्थित पाया, जिसकी कुछ वस्तुएँ तथा शक्तियाँ तो सुखदायिनी एवं कुछ दुखदायिनी थीं। प्रथम कोटि के अन्तर्गत सूर्य, उषा, अग्नि, वर्षण, नदियाँ इत्यादि आईं, जो 'देव' नाम से अभिहित होने लगीं एवं द्वितीय कोटि के अन्तर्गत, तमस्, अवर्षण, व्याधियाँ इत्यादि आई जो 'दानव' के रूप में कल्पित कर ली गई। उन उभय प्रकार की वस्तुओं तथा शक्तियों को सजीव रूप भी प्रदान कर दिया गया। इस प्रकार की प्राग्वैदिक समय से लेकर वैदिक समय तक अनवरत प्रचलित वह विश्वास वैदिक देवविषयक धारणा का मूलाधार है, जो मानव के चतुर्दिक् स्थित प्राकृतिक दृश्यों एवं अन्य पदार्थों को रहस्यमयी शक्ति से युक्त तथा सचेतन मानता रहा है। वह वस्तु जो मानव पर शुभ अथवा अशुभ प्रभाव डालने की भावना को उत्पन्न कर देती थी या मन में त्रास का संचार कर देती थी, प्रार्थना तथा आराधना का पात्र बन जाती थी। इस प्रकार पृथिवी, आकाश, पर्वत, नदी, सूर्य, अग्नि, गो, वृक्ष इत्यादि देवता के रूप में प्रार्थित तथा पूजित होने लगे। यहाँ तक कि स्वयं मानव–निर्मित रथ, शस्त्र, ग्रावा (पत्थर), यूप (यज्ञ का खम्भा) इत्यादि अनेक वस्तुएँ देवता के रूप में सम्बोधित होने लगीं।

4.2 यास्क के देवता विषयक विचार

यास्काचार्य ने निरुक्त (अध्ययन 7–अध्याय–1) दैवतकाण्ड में वैदिक देवताओं के सन्दर्भ में विस्तृत चर्चा की गई है। यास्क ने देवताओं की त्रिविध कोटियां स्वीकार करते हुये उनमें एक–एक देवों को मुख्य माना है–

तिस्र एव देवता इति नैरुक्ताः। अग्नि पृथिवीस्थानः। वायुर्वेन्द्रो वाऽन्तरिक्षस्थानः। सूर्यो द्युस्थानः (निरुक्त–7–5)

अर्थात् तीन प्रकार के देवता हैं–(1) पृथिवीस्थानीय अग्नि, (2) अन्तरिक्षस्थानीय–इन्द्र/वायु, (3) द्युस्थानीय सूर्य।

अन्य देवता इनके सहयोगी माने गये हैं।

वैदिक देवशास्त्र के आदिम तथा सर्वप्रधान स्त्रोत ऋग्वेद के मन्त्रों में देव–विषयक धारणा निर्माण की ओर अग्रसर होती हुई दृष्टिगोचर होती है। देवताओं का उदय, मानो, हमारे नेत्रों के समक्ष होता है। प्राथमिक अवस्था में अनेक सूक्त सूर्य, चन्द्र, अग्नि, द्यौस्, मरुत् आप, उषा, पृथिवी प्रभृति को देवता के रूप में चित्रित करते हुए दृष्टिगत नहीं होते हैं, प्रत्युत भासमान् सूर्य, निशा के आकाश में प्रकाशमान् चन्द्र, यज्ञ–वेदी पर प्रज्ज्वलित अग्नि अथवा मेघ से आविर्भूत विद्युत्, दिवसकालीन आलोकमय आकाश अथवा निशाकालीन तारकित आकाश, गर्जनयुक्त झञ्झावात् मेघों एवं नदियों में प्रवहमान जल, कान्तिमती उषा, विस्तीर्णा एवं अन्नादि–प्रदायिनी पृथिवी–इन प्राकृतिक दृश्यों के गुणगान के रूप में प्रयुक्त हुए हैं। ऋग्वेद के ही सूक्तों में ये प्राकृतिक दृश्य देवगाथात्मक रूपों में तथा तदनन्तर सूर्य, सोम, अग्नि, द्यौस्, मरुत्, वायु, आप, उषा, पृथिवी आदि देवताओं में परिवर्तित होते हुए दृष्टिगत होते हैं, जिनके ये नाम उनकी मौलिक स्थिति को सूचित करते हैं। इस प्रकार ऋग्वेदीय सूक्त निर्विवाद रूप से बताते हैं कि अत्यन्त महत्त्वपूर्ण देवशास्त्रीय रूप अत्यधिक विख्यात प्राकृतिक दृश्यों के मानवीकरण से आविर्भूत हुए हैं। उन देवताओं के विषय में जिनके नाम प्रकृति से स्पष्टतः प्रत्यक्ष रूप से सम्बद्ध प्रतीत नहीं होते हैं, देवशास्त्रीय गवेषणा इस निष्कर्ष पर ले जाने में सफलीभूत हुई है कि वे भी मूलतः सूर्य, चन्द्र आदि की भाँति प्राकृतिक दृश्य थे। इस प्रकार के देवात्मक रूपों के अन्तर्गत जिनका मौलिक स्वरूप मन्त्रों में पहले ही विस्मृत कर दिया गया है तथा जो प्रत्येक प्रकार के अपने चमत्कार–पूर्ण कृत्यों से महती ख्याति अर्जित करने के कारण महान् तथा शक्तिमान् के रूप में समादृत होते हैं, इन्द्र, वरुण, अश्विन, रुद्र, मित्र, विष्णु, पूषा, अदिति इत्यादि परिगणित किये जाते हैं। इन्द्र को कोई झञ्झावात से सम्बद्ध बताता है, तो कोई प्राचीन–सूर्य–देवता घोषित करता है। एक पक्ष के अनुसार वरुण द्युलोक से सम्बद्ध हैं, जब कि अन्य पक्ष उन्हें चन्द्र–देवता मानता है। अश्विनद्वय को कतिपय लोग पृथिवी तथा आकाश बताते हैं, अन्य लोग रात्रि तथा दिन मानते हैं एवं कुछ आधुनिक विद्वान् दो सन्धि–प्रकाशों के रूप में मानते हैं, तथा इतर लोग सूर्य तथा चन्द्र बताते हैं। रुद्र प्रायः झञ्झावात–देव के रूप में मान्य हैं, क्योंकि वे झञ्झावात के विख्यात देव मरुतो के पिता है। परन्तु ओल्डेनबर्ग की दृष्टि में वे पर्वत तथा अरण्य के देवता हैं एवं हिलब्राण्ड्ट के अनुसार अयनवृत्ति सम्बन्धी जलवायु की विभीषिकाओं से सम्बद्ध देवता हैं। इसी प्रकार मित्र, विष्णु एवं पूषा सूर्य से सम्बद्ध हैं, क्योंकि सूर्य प्रकाश–प्रदायिनी मैत्रीपूर्ण शक्ति से युक्त होने कारण 'मित्र', विस्तृत गति के द्वारा पृथिवी से अन्तरिक्ष होते हुए द्युलोक तक जाने के कारण अथवा सर्वत्र व्याप्त

होने के कारण 'विष्णु' एवं अपने प्रकाश के द्वारा पशुओं के पोषक अर्थात् रक्षक होने के कारण 'पूषा' का अभिधान प्राप्त किये हुए हैं। एक मत के अनुसार 'अदिति' आकाश के विस्तार से सम्बद्ध हैं, परन्तु अन्य मत के अनुसार वे असमी तथा विस्तीर्णा पृथिवी हैं। पूर्व में जो विशेषण किसी प्राकृतिक सत्ता के किसी विशिष्ट एवं महत्त्वपूर्ण पक्ष पर बल देते थे, देव–नाम में प्रयुक्त होकर नव देवता बन गये। उदाहरणार्थ, 'सवितृ' (प्रेरक) तथा 'विवस्वत्' (प्रकाशमान्) मूलतः सूर्य के विशेषण थे, तत्पश्चात् सूर्य के नाम हुए, अन्ततोगत्वा सूर्य से पृथक् होकर स्वतन्त्र देव के रूप में समादृत होने लगे। इस प्रकार बहुसंख्यक वैदिक देवता प्राकृतिक दृश्यों अथवा प्राकृतिक सत्ताओं में आविर्भूत हुए हैं। इनसे अतिरिक्त कतिपय देवता ऐसे हैं, जो अमूर्तावस्था से देवत्व को प्राप्त हुए हैं। ऐसे देवताओं में विश्वकर्मा, प्रजापति, श्रद्धा, मन्यु इत्यादि प्रमुख है, जो ऋग्वेद के दशम मण्डल के परवर्ती सूक्तों में चित्रित हैं। कतिपय निम्नकोटि के देवता यथा ऋभुगण, गन्धर्ववृन्द, अप्सराएँ इत्यादि भी ऋग्वेद में स्तुत हैं। ऋग्वेदीय सूक्तों में अनेक दानवों तथा दुरात्माओं का भी वर्णन प्राप्त है, जो देवताओं के शत्रु के रूप में प्रदर्शित किये गये हैं। फलतः घृणा के पात्र है तथा देवताओं द्वारा युद्ध में परास्त किये जाते हैं। इस सन्दर्भ में यह उल्लेखनीय है कि अवेस्ता के 'अहुंर' के समानान्तर 'असुर' शब्द जिसका अर्थ परवर्ती वैदिक वाङ्मय में 'दानव' अर्थात् देवताओं के शत्रु से है, ऋग्वेद के पूर्ववर्ती सूक्तों में देव के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। ऋग्वेद में अनार्य मौलिक निवासियों के लिए प्रायः प्रयुक्त 'दास' या 'दस्यु' शब्द सामान्यतः दुष्ट दानवों के लिए व्यवहृत होने लगता है। इसके अतिरिक्त 'रक्षस्' अथवा 'राक्षस' शब्द भी ऋग्वेव में ही नहीं प्रत्युत पश्चात्वर्ती सम्पूर्ण भारतीय साहित्य में दुष्टात्माओं के लिए प्रयुक्त हुआ है।

4.2.1 देवता आकार चिन्तन

देवताओं के आकार के विषय में पर्याप्त मतभेद हैं–

1) कोई देवताओं को पुरुषाकृति और चेतन मानते हैं,
2) कोई इनको अपुरुषाकृति मानते हैं,
3) कोई इनको पुरुष एवं अपुरुष उभय आकृतियों वाला मानता है–

'अथाकारचिन्तनं देवतानाम्। पुरुषविधाः स्युरित्येकम् चेतनावद्धि भवन्ति। अपुरुषविधाः स्युरित्यपरम। अपि वोभयविधाः स्युः।। (निरुक्त)

ऋग्वेद देवताओं के आविर्भाव को अनेक प्रकार से चित्रित करता है। ब्रह्मणस्पति ने लौहकार की भाँति देवताओं के जन्म को धौका अर्थात् प्रादुर्भूत किया। इस प्रकार देवताओं की आदि सृष्टि में असत् (नाम–रूप–रहित तत्त्व) से सत् (नाम–रूपात्मक जगत्) की उप्पत्ति हुई। इसके अनन्तर क्रमानुसार दिशाएँ तथा वृक्ष प्रादुर्भूत हुए। पश्चात् वृक्ष से पृथिवी तथा पृथिवी से दिशाएँ एवं अदिति से दक्ष तथा दक्ष से अदिति उत्पन्न हुई। अदिति ने आदित्यों को जन्म दिया तथा क्रम से इतर देवता प्रादुर्भूत हुए। ऋग्वेद के दार्शनिक सूक्त देवोद्भव को प्रायः जल–तत्त्व से मानते है, जबकि अन्य अनेक मन्त्र देवताओं को परस्पर एक दूसरे से प्रादुर्भूत चित्रित करते हैं। उदाहरणार्थ, कहीं उषा को देवताओं की माता कहा गया है, कहीं ब्रह्मणस्पति को पिता बताया गया है, तो अन्यत्र सोम को पिता कहा गया है। अथर्ववेद के अनुसार देवताओं की उत्पत्ति असत् से हुइ है तथा बृहदारण्यकोपनिषद् के अनुसार प्रजापति से उत्पत्ति हुई है। वेद–मन्त्रों के अत्यन्त प्राचीन तथा प्रामाणिक भाष्यकार यास्क की मान्यता है कि देवों

का स्वरूप मानवीय नहीं है, यथा अग्नि, वायु, सूर्य, पृथिवी इत्यादि। वैदिक देवों के प्रकृतिपरक रूपों में प्रारम्भ में कतिपय समान गुण प्राप्त है। जैसे उषा, सूर्य, और अग्नि इन तीनों में समान गुण है– प्रकाश प्रसार, अन्धकार–परिहार तथा प्रातर्प्रादुर्भाव। पारस्परिक वैभिन्य उस स्थिति में अत्यन्त न्यून हो जाता है, जब भिन्न–भिन्न देव एक ही प्राकृतिक दृश्य या घटना के विविध पक्षों से उद्भूत हुए सूचित किये जाते हैं। फलतः प्रत्येक वैदिक देव–स्वरूप में तात्त्विक वैशिष्टय कतिपय ही हैं, जो अन्य सम्पूर्ण देवताओं में प्राप्त वैशिष्टयों के प्रायः समान है, यथा, ज्योति, शक्ति, औदार्य तथा प्रज्ञा। कतिपय असामान्य माहात्म्य के कार्य प्रत्येक महान् देव में वैयक्तिक रूप से निहित कर दिये गये हैं। दशाधिक देवता उभय लोकों के स्रष्टा के रूप में वर्णित किये गये हैं। बहुसंख्यक देवों ने सूर्य का सृजन करके उसे द्युलोक में प्रतिष्ठापित किया है। कतिपय देवताओं ने द्यावा–पृथिवी को विस्तृत किया है। इन्द्र, पर्जन्य, सविता, सूर्य, पूषा तथा आदित्यगण चराचर के अधिपति के रूप में वर्णित किये गये हैं। इस प्रकार के सर्वसामान्य गुण प्रत्येक देव के विशेष गुणों को धूमिल कर देते हैं, क्योंकि स्तुतिपरक सूक्तों में तो तत् तत् देवों के इन्हीं गुणों पर विशेष बल दिया गया है। साथ ही प्रकृति के विभिन्न क्षेत्रों या पक्षों से सम्बन्धित होने पर भी यदि देवों के मुख्य कार्य सामान्य हुए, तो सम्पूर्ण देव एक दूसरे के निकटस्थ हो जाते हैं। इसलिए पृथिवी–स्थानीय अग्नि देव अपने आलोक से अन्धकार के राक्षसों का परिहार करते है, जबकि अन्तरिक्ष–स्थानीय विद्युत्–देव इन्द्र उन राक्षसों का अपनी विद्युत् के द्वारा संहार करते हैं। ऐसी स्थिति में अग्निदेवविषयक धारणा में अन्तरिक्ष–स्थानीय विद्युत् का पक्ष भी अन्तर्निहित हो जाता है। देवों के इस समानीकरण या एकीकरण में उनके जोड़ों में आहूत होते रहना भी एक प्रमुख कारण रहा है। फलस्वरूप एक देव के विशेष गुण इतर देव में, उसके एकाकी आहूत किये जाने पर भी प्रविष्ट हो जाते हैं। यथा, अग्नि सोमपा, वृत्रहन्ता तथा गौ, जल एवं आदित्य का विजेता बन जाता है, जबकि वस्तुतः ये गुण इन्द्र के रहे थे। प्रत्येक वैदिक देव में सामान्यतः सम्पूर्ण गुणों के एकीकरण के परिणामस्वरूप रूपरेखाविषयक अनिश्चितता से तथा सम्पूर्ण देवों को सभी शक्तियों से युक्त सूचित करके उनके स्वयं के विशेष गुणों के निराकरण से देवों में एकरूपता स्थापित करना सुकर हो गया है। इस एकरूपता से सम्बन्धित स्थल ऋग्वेद में बहुत अधिक है। उदाहरणार्थ, एक ऋषि अग्नि को सम्बोधित करके कहता है– हे अग्नि! जन्म से तुम वरुण हो, प्रज्ज्वलित होने पर तुम मित्र हो, हे शक्ति के पुत्र! तुझमें सम्पूर्ण देव स्थित हैं; तुम हविष्प्रदाता मनुष्य के लिए इन्द्र हो। अत्यन्त महत्त्वपूर्ण देवता अग्नि को इस पृथिवी पर व्यक्तिगत अग्नि के रूप में, अन्तरिक्ष में वैद्युत् अग्नि के रूप में तथा आकाश में आदित्य–निहित अग्नि के रूप में उत्पन्न माना गया है।

इस प्रकार देव विशेष को भिन्न–भिन्न देवों के अन्दर उपस्थापित करने की प्रवृत्ति इस निष्कर्ष पर ले जाती है कि तत् तत् देवता एक ही महती सत्ता के भिन्न–भिन्न रूप है। इस निष्कर्ष की पुष्टि कतिपय ऋग्वेदीय मन्त्रों से ही जाती है– विप्रवृन्द एक ही देव का विभिन्न नामों से अभिहित करते हैं; वे इस एक को अग्नि, यम, मातरिश्वा आदि नामों से सूचित करते हैं। वे ही मनीषी विप्र एक सुपर्ण को अनेक प्रकार से कल्पित करते है।

ऋग्वेद के अन्तिम समय में बहुदेवता–मूलक एकदेववाद की धारणा का उदय हो गया था। एक देव समर्पण देवों का मात्र आधार नहीं है, प्रत्युत वह समूची प्रकृति का भी प्रतिनिधि है। अदिति की तद्रुपता सभी देवों के साथ स्थापित की गई है। इसी प्रकार

प्रजापति सम्पूर्ण देवों के ऊपर एक देव कहा गया है। यजुर्वेद तथा अर्थववेद में एकदेववाद की यह धारणा और अधिक पुष्ट दिखाई देती है, क्योंकि उस एक देव को ही विभिन्न देवों के रूप में कल्पित किया गया है। ऋग्वेद की प्राथमिक सूक्तों में तत् तत् देवों का स्तवन उन्हें सर्वोत्तम मान कर किया गया है। वैदिक ऋषि देव विशेष का स्तवन करते समय उसके गुणगान में पूर्णतः लीन होकर उसके गुणों को चरमोत्कर्ष पर प्रतिष्ठापित कर देते हैं। मैक्समूलर द्वारा प्रतिपादि हेनोथेइज्म (सर्वेश्वरवाद) की मान्यता इसी प्रवृत्ति का परिणाम है। एक–एक देव को क्रम से सर्वश्रेष्ठ देव के रूप में वर्णित करना ही हेनोथेइज्म (सर्वेश्वरवाद) है। इस सिद्धान्त के विरोध में यह कहा जाता है कि वेद के देव पूर्णतः स्वतन्त्र नहीं हैं। दृष्टान्तस्वरूप वरुण और सूर्य, इन्द्र के नियम के अन्तर्गत हैं। वरुण तथा अश्विन् विष्णु के समक्ष नतमस्तक होते हैं। इन्द्र वरुण मित्र, अर्यमा और रुद्र सविता के नियमों का अतिक्रमण नहीं करते है। इस प्रकार इतना तो स्वीकार किया जा सकता है कि यह सिद्धान्त वैदिक ऋषियों के एकेश्वरवादोन्मुख धारणा का द्योतक है।

वैदिक ऋषियों ने देवताओं की पृथिवी एवं आकाश अथवा इतर देवताओं के पुत्र के रूप में चित्रित करके उनके आरम्भ को सूचित किया है। 'पूर्वे देवाः' का प्रयोग उनके अनेक पीढ़ियों की ओर संकेत करता है। अथर्ववेद भी दश देवताओं को इतर देवताओं के पूर्व होने की बात सूचित करता है। इसके अतिरिक्त अथर्ववेद यह भी कहता है कि ये देव मरणशील थे। ऋग्वेद के अनुसार देवताओं को अमरता की प्राप्ति सविता अथवा अग्नि से हुई थी। सोम–पान को भी अमरता का प्रदाता कहा गया है। उल्लेख करता है कि देव अमरत्व को रोहित से प्राप्त किये। तैत्तिरीय संहिता के अनुसार देवताओं ने मृत्यु को यज्ञ के द्वारा जीता। इन उल्लेखों से यह निष्कर्ष निकलता है कि देवताओं ने अमरत्व का अर्जन किया था। वे स्वतः अमर नहीं थे।

देवताओं के शरीर के विभिन्न अंग उनके प्राकृतिक दृश्यों के रूप–विशेषों की प्रतिमूर्ति के रूप में उल्लिखित है। उदाहरणार्थ अग्नि की लपटें ही उसकी जिह्वा तथा अन्य अंग के रूप में कथित है। सूर्य की किरणें ही उस (सूर्य) की भुजाएँ कही गई है। देवताओं के भोज्य पदार्थ सुस्वादु दुग्ध तथा दुग्ध से बने पदार्थ एवं यव, चावल इत्यादि अन्न कहे गये हैं। उनका प्रिय पेय सोम है। सामान्यतः देवता लोग परस्पर मैत्रीभाव का निर्वाह करते हुए प्रेममय जीवन यापन करते हैं। इस प्रवृत्ति का अपवाद इन्द्र है, जिसने अपने माता–पिता तक की हत्या कर डाली, उषा के रथ को ध्वस्त कर दिया तथा सम्पूर्ण देवों के साथ युद्ध कर लिया। देवता परस्पर एक दूसरे से सम्बद्ध है। द्यावा–पृथिवी देवताओं के माता–पिता कहे गये हैं। उषा द्यौस् की दुहिता, भग की भगिनी तथा सूर्य की पत्नी है। रात्रि तथा उषा परस्पर बहन हैं। अग्नि को इन्द्र का भ्राता बताया गया है। अग्नि अपनी जिह्वा से इन्द्र को सोमपान करा करके उसकी सहायता करता है। इन्द्र वृत्र का संहार करके सभी देवों की आनन्दित करता है। अग्नि सम्पूर्ण देवों का दूत बन करके उन्हें लाभान्वित करता है। मरुद्देवता इन्द्र के सैनिक बन कर उसकी सहायता करते है। सोम इन्द्र को वीरत्वपूर्ण कार्यों को सम्पादित करने के लिए प्रोत्साहित करता है। विष्णु भी वृत्र–युद्ध के समय इन्द्र के सहायक सिद्ध होते हैं। त्वष्टा ने वृत्र के वध के लिये इन्द्र के वज्र का निर्माण किया। ऋग्वेद एक स्थल पर प्रत्येक देवता के स्वतन्त्र तथा समान अस्तित्व की अभिव्यक्ति करता है। क्योंकि उनमें न कोई बड़ा है और न छोटा है, सभी श्रेष्ठ हैं।

सामान्यतः वैदिक देवता नैतिक चरित्र से सम्पन्न है। वे छल–कपट से दूर रहते हुए सत्य–प्रिय दृष्टिगत होते है। वरुण नैतिकता का सर्वप्रमुख संरक्षक है। वे देवता बल,

बुद्धि एवं औदार्य से उपेत हैं तथा समृद्धि के प्रदाता हैं। उषा–सदृश देवता को अप्रतिम सौन्दर्य से युक्त चित्रित किया गया है। वैदिक देवता ऋत से सम्बन्धित हैं, जो ऋग्वेद की एक महती धारण है। प्रत्येक देवता अपने–अपने क्षेत्र में ऋत हैं, ऋत को अभिव्यक्त करते हैं तथा ऋत के पोषक एवं रक्षक हैं।

4.2.3 देवताओं की संख्या

ऋग्वेद तथा अथर्ववेद दोनों में अनेक स्थलों पर देवताओं की संख्या 33 बताई गयी है। ऋग्वेद एक स्थान पर देवताओं की संख्या 3339 बताया है। ऐतरेय–ब्राह्मण तथा शतपथ–ब्राह्मण में भी देवताओं की संख्या 33 बताई गई है। ऋग्वेद तथा अथर्ववेद दोनों में देवताओं को तीन स्थानों से सम्बद्ध बताया गया है। इसी आधार पर देवताओं का वर्गीकरण तीन श्रेणियों में किया जाता है। ऋग्वेद में एक स्थान पर प्रार्थना की गई है कि सूर्य आकाशलोक से, वायु अन्तरिक्ष–लोक से तथा अग्नि पृथिवी–लोक से हमारी रक्षा करें। सम्भवतः इसी को आधार मान कर निरुक्तकार यास्क ने भी तीनों लोकों से सम्बद्ध तीन प्रमुख देवों के माध्यम से तीन श्रेणियों में वर्गीकरण किया है।

4.2.4 प्रमुख वैदिक देवताओं का स्वरूप–परिचय एवं कार्य

वरुण

ऋग्वेद के देवताओं में वरुण का स्थान महत्त्वपूर्ण है। यद्यपि सम्पूर्ण ऋग्वेद में मात्र 12 सूक्त ही वरुण की स्तुति एवं गुणगान की गयी हैं, तथापि इन्द्र के अतिरिक्त अन्य कोई भी वैदिक देवता वरुण से महत्तर नहीं दिखलायी पड़ता। वरुण शब्द 'वृ' आवरणे धातु से निष्पन्न हो सकता हैं, इस प्रकार 'आवरक' देव के रूप में इनको वैदिक देवकुल में अधिक महत्त्वशाली स्थान है।

अन्य अनेक वैदिक देवों के समान वरुण के भी हाथ, पैर, मुँह, आँख इत्यादि अवयवों का उल्लेख ऋग्वेद में प्राप्त होता है। सूर्य को उनका नेत्र कहा गया है। सूर्य के पास असंख्य किरणें हैं। अतः वरुण को भी हजार नेत्रों वाला कहा गया है। इसी प्रकार अग्नि को वरुण का चेहरा कहा गया है। वे स्वर्णिम चादर ओढ़ते हैं। चमकीला वस्त्र धारण करते हैं। वरुण का रथ सूर्य की भाँति देदीप्यमान है। इसमें एक आसन और एक चाबुक सदैव विद्यमान् रहता है। वरुण के रथ को दो सुन्दर अश्व खींचकर ले जाते हैं। वे अपने महल में बैठकर मनुष्यों के सभी कार्यों का निरीक्षण करते हैं। वज्र एवं पाश उनके प्रमुख शस्त्र हैं।

वरुण सर्वोच्च लोक (स्वर्ग) में विद्यमान् अपने स्वर्णमय प्रासाद में निवास करते हैं। पितृगण उसी प्रासाद में जाकर उनका दर्शन करते हैं। उनके प्रासाद में सहस्र द्वार हैं। स्वर्ग उन्हें धारण नहीं कर सकता। अपितु सम्पूर्ण स्वर्ग एवं भूलोक उनके भीतर निहित हैं। वे सबको धारण करने वाले तथा सर्वव्यापी देव हैं।

वरुण का प्रधान कार्य जल बरसाना है। नदियों को प्रवाहित करना इन्हीं के वश में है। मनुष्यों के कार्य–कलापों का निरीक्षण करना इनका नैतिक गुण हैं। ये द्युलोक एवं पृथिवीलोक को स्थिर किये हुए हैं। वे ही अग्नि को जल में, सूर्य को आकाश में तथा सोम को पत्थरों पर स्थान दिये हैं। वे सम्पूर्ण संसार पर शासन करते हैं। सम्पूर्ण जगत् की रक्षा करते हैं। सूर्य के गमनहेतु मार्ग की निर्माण वरुण ने ही किया है। चन्द्रमा और तारे इन्हीं के आदेश से अपने–अपने कार्यों में लगे रहते हैं। ऋतुओं का नियमन करना भी वरुण का ही कार्य है। वरुण की ही शक्ति (माया) के कारण नदियाँ

समुद्र में गिरती हुई भी उसे जल से परिपूर्ण नहीं कर पातीं। संसार में होने वाली सभी गुप्त से गुप्त बातों को वे जानते हैं। वे सर्वज्ञ हैं। प्रत्येक आँख की पलक गिरने तक का उन्हें ज्ञान है। वरुण का साम्राज्य पक्षियों की उड़ानों से भी दूर, समुद्र तथा पहाड़ों की पहुँच से बाहर तक फैला हुआ है।

वरुण संसार के नैतिक अध्यक्ष हैं। वरुणदेव नैतिक व्यवस्था का उल्लंघन करने वाले व्यक्ति को कठोर से कठोर दण्ड देते हैं। पापकर्म करने एवं व्रत का उल्लंघन करने पर वे क्रुद्ध भी होते हैं। वे क्रुद्ध होकर पापकर्मी व्यक्ति को अपने भयंकर आयुध का पात्र बनाते हैं। उस व्यक्ति को अपने पाशों में बाँधते हैं। वरुण नैतिकता के विरोधी व्यक्ति को पाशों की मार से दण्डित भी करते हैं। वरुण द्वारा दण्डित को जलोदर का रोग हो जाता है। पापों के फलभोग के लिए वरुण द्वारा दिया गया दण्ड है।

प्रागैतिहासिक काल में यूनानी जियस् (द्यौस्) तथा और नॉज के प्रकाश और घेरना ये दो गुण कहे गये हैं। ये दोनों ही गुण वरुण में पाये जाते हैं। वस्तुतः भारत ईरानी काल में ही वरुण का प्रभाव बढ़ गया था क्योंकि 'अहुरमज्द' वरुण की ही प्रतिरूप प्रतीत होता है। कतिपय प्राच्यविद्या–विशारद वरुण का भौतिक आधार मानते हैं। वरुण देव को सातवाँ आदित्य भी कहा गया है। ओल्डेनवर्ग वरुण को सूर्य, चन्द्र तथा पंचग्रह का प्रतिरूप मानते हैं।

ऋग्वेद में वरुण देवता से अपनी रक्षा के लिए एवं अपने अपराधों के पापशमन के लिए अनेकशः प्रार्थनाएँ की गयी हैं।

इन्द्र

इन्द्र ऋग्वेद का सर्वाधिक लोकप्रिय और महत्त्वपूर्ण देवता है। ऋग्वेद के 250 सूक्तों में इन्द्र की स्तुति स्वतन्त्र रूप में की गयी है तथा 50 सूक्तों में अन्य देवताओं के साथ भी उसे स्तुत किया गया है। इस प्रकार ऋग्वेद का लगभग चतुर्थांश इन्द्र के ही गुणगानों से भरा हुआ है। जिस प्रकार अग्नि और सूर्य क्रमशः पृथिवीलोक एवं द्युलोक के अधिपति हैं, उसी प्रकार इन्द्र अन्तरिक्षलोक के अधिपति हैं। इन्द्र देवता की कतिपय विशेषताएँ इस प्रकार हैं–

इन्द्र शब्द का निर्वचन अनिश्चित है। अतः इसका अर्थ भी अस्पष्ट है। यास्क ने निर्वचन करते हुए कहा है– इन्द्र इरा (अर्थात् अन्न के जनक मेघ) को विदीर्ण करते हैं। अथवा अन्न को (वर्षण के द्वारा अंकुर उत्पन्न करके) विदीर्ण करते हैं, अथवा अन्न को प्रदान करते हैं अथवा अन्न को धारण करते हैं, अथवा इन्दु अर्थात् सोमपानार्थ द्रुतगति से जाते हैं, अथवा इन्दु अर्थात् सोम में रमण करते हैं, अथवा भूतों को (अन्नदान) प्रदीप्त करते हैं। आचार्य आग्रयण ने इन्द्र की निरुक्ति 'यह सब करने के कारण' को आधार बनाकर किया है। आचार्य औपमन्यव ने इस सन्दर्भ में कहा है कि इन्द्र यह सब कुछ देख लिये हैं अथवा ऐश्वर्यमुक्त होते हुए वैरियों के विदारक या परिहारक हैं अथवा यज्ञवालों के आदरकर्त्ता हैं। बृहद्देवताकार शौनक ने यास्क का अनुसरण करते हुए घोषित किया है कि उपयुक्त समय पर मरुतों से संयुक्त होकर अम्बर में घोर गर्जन के साथ अन्न (के कारणभूत मेघ) को विदीर्ण करने के कारण इन्हें ऋषि 'इन्द्र' के नाम से अभिहित करते हैं।

ऋग्वेद में इन्द्र का चित्रण मानवाकृति रूप में किया गया है। इसके विशाल शरीर, शीर्ष, भुजाओं एवं बड़े उदर का उल्लेख अनेक बार किया गया है। उसके जबड़ों एवं अधरों का भी उल्लेख प्राप्त होता है। वह भूरे–वर्ण का देव है। यहाँ तक कि उसके

केश एवं दाढ़ी भी भूरे वर्ण के ही हैं। उसका मुख सुन्दर है। उसकी भुजाएँ भी वज्रवत् पुष्ट एवं कठोर हैं। वह सात रश्मियों (किरणों) से युक्त है।

ऋग्वेद के सम्पूर्ण दो सूक्तों में इन्द्र के जन्म के सम्बन्ध में अनेक तथ्यों को बतलाया गया है। निर्ऋति तथा शवसी नामक गाय को उसकी माँ कहा गया है। उनके पिता द्यौः या त्वष्टा हैं। एक स्थल पर इन्द्र को सोम से उत्पन्न कहा गया है। अग्नि और पूषन् इनके भाई हैं। इन्द्राणी पत्नी और मरुद्गण मित्र तथा सहायक हैं। इन्द्र को वरुण, वायु, सोम, बृहस्पति, पूषन् और विष्णु के साथ युग्म रूप में भी स्तुत किया गया है।

इन्द्र ने जन्म लेते ही समस्त देवताओं को अपने पराक्रम से आक्रान्त कर दिया इसके पौरुष की महिमा से द्युलोक एवं पृथिवी–लोक काँप गये। इन आर्यों को अनार्यों के विरुद्ध युद्ध में सहायता प्रदान करके विजयी बनाता है। इसीलिए वह अपने अपूजकों और विरोधियों का वध करता है। इन्द्र अपने भक्तों की रक्षा एवं सहायता करता है। इन्द्र ने अस्थिर पृथिवी को स्थैर्य प्रदान किया। इधर–उधर उड़ते हुए पर्वतों का पंख–छेदन करके उन्हें तत्तत् स्थानों पर प्रस्थापित किया। उसने द्युलोक को भी स्तब्ध किया है। इस प्रकार उसने अन्तरिक्ष का भी निर्माण किया है। दो मेघों या पत्थरों के मध्य से अग्नि को भी इन्द्र ने ही उत्पन्न किया है। उसने ही सूर्य एवं उषस् को भी उत्पन्न किया है। उसने बल का प्रदर्शन करते हुए अहि को मारकर सात नदियों को प्रवाहित होने के लिए उन्मुक्त किया है। इन्द्र ने भयवशात् पर्वतों में छिपे हुए शम्बर नामक असुर को 40 वें वर्ष में ढूँढ़ निकाला और उसका वध कर दिया। इन्द्र ने बल नामक राक्षस के बाड़े से गायों को बाहर निकाला था। स्वर्ग में चढ़ते हुए रौहिण नामक असुर को भी इन्द्र ने ही अपने शरु नामक वज्र से मार डाला था।

इन्द्र का सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य वृत्रवध है। वृत्रवध की गाथाओं से इन्द्र–सूक्त भरे पड़े हैं। इस गाथा के वर्णन से ऋषि अघाते नहीं। इन्द्र ने सोमरस का पान करने का तो मानो व्रत ही ले लिया है। सोम–लता को पीसने, निचोड़ने एवं पकाने वाले की वह रक्षा करता है। सोमरस के पान–कर्त्ता के रूप में इन्द्र वैदिक देवताओं में अपना उपमान नहीं रखता। अचल या अनश्वर पदार्थों को चल या नश्वर बनाना भी इन्द्र के ही वश में है। इसीलिए तो योद्धागण अपनी विजय के लिए इन्द्र का आवाहन करते हैं।

अनेक वैदिक विद्वान् इन्द्र को प्रकाश का देवता मानकर उसको सूर्य के साथ समीकृत करते हैं। लोकमान्य तिलक वृत्र को हिम का प्रतीक मानते हैं जिसे इन्द्र अर्थात् सूर्य नष्ट करता है। उनके अनुसार आर्यों के आदि देश उत्तर–ध्रुव में शीतऋतु में सभी नदियों की धाराएँ जल के अभाव के कारण रुक जाती है। वसन्त का सूर्य ही बर्फों को पिघलाकर जलधाराओं को प्रवाहित करता है। भारतीय परम्परा भी बादलों के पारस्परिक टकराव से उत्पन्न प्रकाश (विद्युत्) को ही इन्द्र का वज्र स्वीकार करती है। चमक के कारण बादलों का क्षरण होता है जिससे ऐसा प्रतीत होता है कि बादल इन्द्र के वज्र से आहत होकर आँसू गिराते हैं। ये बादल ही वृत्र हैं। आवरणार्थक 'वृञ्' धातु से निष्पन्न 'वृत्र' शब्द का अर्थ है आवरक या आच्छादक। 'वृत्र' को मेघ मानने पर भी इन्द्र की सूर्यरूपता स्पष्टताः बनी रहती है।

अनेक स्थलों पर मरुतों की सहायता से इन्द्र द्वारा वृत्र–वध होने का भी उल्लेख प्राप्त होता है। इस कथन से भी यही स्पष्ट होता है कि सूर्य की गर्मी से मरुत् (वायु) गर्म होकर ऊपर उठता है, जिससे वर्षा होती है।

वेदों में 'गौः' 'गावः' इत्यादि शब्दों का अर्थ 'किरणें' भी हैं। सभी दिशाओं में इन्द्र अर्थात् सूर्य की ही किरणें व्याप्त हो रही हैं। 'पृथिवी एवं द्युलोक इन्द्र (सूर्य) के प्रति झुक जाते हैं', इस कथन का भी तात्पर्य यही हो सकता है कि सूर्य के चारों ओर पृथिवी चक्कर लगाती है तथा द्युलोक भी सूर्य के प्रकाश से ही प्रकाशित होता है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह निःसन्देह कहा जा सकता है कि वैदिक देवताओं में इन्द्र का स्थान सर्वोपरि हैं। इसीलिए परवर्ती साहित्य में इन्द्र को देवताओं का राजा माना गया है तथा अनेक पौराणिक ग्रन्थों में इन्द्र वर्षा कराने वाले देवता के रूप में विख्यात हैं।

सूर्य

द्युस्थानीय और देवताओं में सर्वाधिक स्थूल सूर्य देवता भौतिक सूर्य के साथ घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध है। लोकों को प्रकाशित करने वाला सूर्य ही देवता है। इस लिए सूर्य देवता की स्तुति में भौतिक सूर्य की ही विशेषताओं का वर्णन हुआ है। सूर्य का चमत्कार घेरा ऋषियों के लिए विशेष आकर्षण का विषय था। ऋग्वेद में 10 सूक्तों में सूर्य की स्तुति की गयी है।

यास्क के अनुसार सूर्य शब्द 'सृ' या 'षु' धातु से निष्पन्न है। उनके अनुसार सूर्य का निर्वचन इस प्रकार है– 'सरते वा सुवतेर्वा' अर्थात् ये अन्तरिक्ष में गति प्रदान करते हैं, लोगों को अपने–अपने कार्यों में प्रेरित करते हैं अथवा वायु के द्वारा ये भूलोक की ओर प्रेरित किये जाते हैं। इसीलिए इन्हें सूर्य कहा जाता है। बृहद्देवताकार शौनक के अनुसार ये प्राणियों के मध्य विचरण करते हैं अथवा ये उन्हें भली–भाँति प्रेरित करते हैं। उनके सभी कार्यों को सम्यक् प्रकार से धारण किये हुए ये उन्हें भली–भाँति प्रेरित करने के लिए उनके मध्य गमन करते हैं।

द्यौ को सूर्य का पिता और अदिति को इनकी माता कहा गया है। कहीं–कहीं उषा को उनकी माता और कहीं पत्नी कहा गया है। पुरुषसूक्त में इनकी उत्पत्ति विराट् पुरुष के नेत्रों से बतलायी गयी है। इसके अतिरिक्त इन्द्र, सोम और धाता को भी सूर्य का जनक कहा गया है। सूर्य का वाहन रथ है। इसके रथ में एक या सात घोड़े जुते हुए हैं। इनके एक घोड़े का नाम एतश् है। इनके रथ में जुते हुए घोड़े हरित कहलाते हैं।

सूर्य अपने प्रकाश द्वारा दानवों को विनष्ट करते हैं तथा व्याधियों, दुःखस्वप्नों आदि को दूर करते हैं। ये आकाश, पृथिवी और अन्तरिक्ष को चारों ओर से भर देते हैं। सूर्य को स्थावर और जंगम प्राणियों की आत्मा कहा गया है। इस प्रकार ये स्थावर तथा जंगम प्राणियों में आत्म संचार करते हैं। ये अपने अश्वों को जब रथा से अलग करते हैं तो रात्रि हो जाती है और संसार का समस्त कर्मजाल मध्य में ही रुक जाता है। सूर्य द्वारा ही रात और दिन का नियमन किया जाता है। ये सम्पूर्ण जगत् के स्थिरकर्ता और रक्षक हैं।

परिदृश्यमान सूर्य के अनेक कार्य तथा रूप हैं अतः अनेक नामों से इनकी स्तुति की गयी है। जाज्वल्यमान मण्डल रूप में सूर्य, प्रकृति को प्रकाश देने वाली तथा मैत्रीमय शक्ति के रूप में मित्र, जीवन तथा कार्य के महान् प्रेरक के रूप में सविता, पशुओं के पोषक तथा संरक्षक के रूप में पूषा, आकाश से पृथिवी पर्यन्त तीन पादप्रक्षेपों में व्याप्त हो जाने के रूप में विष्णु, अपने आगमन से ठीक पूर्व आकाश में अनुपम सौन्दर्य युक्त आभा को प्रादुर्भूत करने के रूप में उषा तथा प्रातःकाल में सभी दिशाओं को आलोकित करने के रूप में विवस्वान् के नाम से इनकी स्तुति की गयी है।

ऋग्वेद में सूक्तों की संख्या के आधार पर इन्द्र, अग्नि एवं सोम के पश्चात् विख्यात देवयुग्म अश्विनों का स्थान आता है। इनके सम्बन्ध में लगभग 50 से अधिक सम्पूर्ण तथा अनेक सूक्तांश प्रयुक्त हैं। इनके नाम का उल्लेख 400 से अधिक बार हुआ है। ये देव यमल हैं तथा साथ–साथ रहते हैं। इसीलिए इनकी तुलना नेत्र, हस्त, पाद आदि से की जाती है, परन्तु कतिपय मन्त्र इनके पृथक्–पृथक् होने की भी सूचना देते हैं। उदाहरणार्थ, ये यहाँ–यहाँ उत्पन्न हुए, जिनमें एक विजयशील राजपुत्र था, तथा द्वितीय द्यौस् का पुत्र था। एक मन्त्र में एक ही अश्विन् का उल्लेख किया गया है। आचार्य यास्क के अनुसार एक निशापुत्र तथा द्वितीय उषापुत्र था। यास्क ने 'अश्विन' का निर्वचन करते हुए कहा है कि ये सबको व्याप्त कर लेते हैं– इनमें एक रस से तथा द्वितीय प्रकाश से व्याप्त करता है। इस प्रकार 'अश्' धातु में 'विनि' प्रत्यय लगाकर 'अश्विन' शब्द निष्पन्न होता है। परन्तु और्णवाभ नामक आचार्य के अनुसार अश्वों से अश्वि अर्थात् अश्विन् कहे जाते हैं। अतः 'अश्व' में 'इनि' प्रत्यय जोड़ने पर 'अश्विन्' शब्द निष्पन्न होता है।

अश्विनों के भौतिक आधार के विषय में ऋषियों ने अत्यन्त अस्पष्ट भाषा का प्रयोग किया है। फलतः ये देवयुग्म किस भौतिक दृश्य के प्रतिरूप थे, इसका उचित तथा असन्दिग्ध निर्णय यास्क तथा अन्य भाष्यकारों के लिए भी कठिन हो गया। इसीलिए यास्क अनेक मतों को उद्धृत करते हैं। कतिपय आचार्यों के अनुसार सूर्य तथा इन्द्र थे। ऐतिहासिक के अनुसार पुण्यकृत्ययुक्त दो राजा थे। रॉथ का विचार है कि यास्क इन दोनों को इन्द्र तथा सूर्य मानते थे, जबकि गोल्डस्टुकर सा कहना है कि यास्क इन दोनों को इन्द्र तथा सूर्य मानते थे, जबकि गोल्डस्टुकर सा कहना है कि यास्क अन्धकार तथा प्रकाश के मध्य की द्वैतयुक्त अवस्था मानते थे। हॉप्किंस के अनुसार ये देवयुग्म उषःकाल के पूर्व उस मन्द्रप्रभ प्रकाश के प्रतिरूप हैं, जो अर्ध तमस् एवं अर्ध भास् से युक्त होता है। ओल्डेनबर्ग के अनुसार ये प्रातःकालिक एवं सायंकालिक तारों के, मैक्समूलर के अनुसार प्रातःकाल एवं सायंकाल के, बेर्गाने के अनुसार स्वर्गाग्नि एवं वेद्यग्नि के, वोड्स्कोव् (Vodskov) के अनुसार वर्षा देने वाले एवं ओस देने वाले के, ब्रन्नहोफर् (Brunnhofer) के अनुसार प्रातःकालिक एवं सांयकालिक वायु के तथा वेबर के अनुसार जैमिनि तारामण्डल के उभय तारों के प्रतिरूप थे। इन सबके विपरीत गेल्डनर का यह मत है कि अश्विन् किसी भी भौतिक दृश्य के प्रतिरूप न होकर साहाय्य प्रदान करने वाले सन्तद्वय थे। अश्विनों के विषय में विद्यमान् इस अनिश्चयता का एक प्रमुख कारण यह है कि ये निस्सन्देह एक प्रागैतिहासिक देव हैं। अतः ये अपने विकास–क्रम में इतने अधिक परिवर्तनों से ग्रस्त रहे हैं कि इनका मूलभूत भौतिक आधार विस्मृतप्राय हो चुका है।

ऋग्वेद में अश्विनों के एकाधिक माता–पिता का उल्लेख किया गया है। ये द्यौस् की सन्तान हैं। इनकी माता सिन्धु है। ये विवस्वान् तथा सरण्यू के भी पुत्र कह गये हैं। ये पूषा के पिता तथा उषा के भ्राता हैं। इनका मधुर तथा महत्त्वपूर्ण सम्बन्ध सूर्य की पुत्री सूर्या के साथ चित्रित किया गया है, जो इनकी पत्नी है।

अश्विनों के स्थान के रूप में द्युलोक, द्युलोक के समुद्र, अन्तरिक्षलोक, वायुलोक, वनस्पति तथा पर्वत के सर्वोच्च शिखर का उल्लेख किया गया है। इनका आविर्भाव उषा के प्रारम्भिक काल में होता है। ये दोनों अपने रथ के द्वारा उषा का अनुसरण करते हैं। ये भास्वर, युवा परन्तु पुरातन, शीघ्रगामी, अनेक रूप, सुन्दर, अरुण,

शक्तिमान् तथा तीक्ष्ण मेधा–सम्पन्न हैं। 'नासत्य' तथा 'दस्त्र' इसके अत्यन्त प्रचलित विशेषण हैं। 'नासत्य' तो एक प्रकार से अश्विनों का पर्याय सा बन गया है।

अन्य देवताओं की तुलना में अश्विनों का मधु से घनिष्ठ सम्बन्ध है। इनके रथ के वाहक पक्षी भी मधु से सिक्त होते हैं। अश्विन् मधु से पूर्ण एक चर्म को रखते हैं। इन्होंने एक बार मधु के शत कुम्भों को गिराया तथा मधु–मक्षिका का भी मधु प्रदान किया। इन्हें 'मधुयु' (मधु का अभिलाषी) तथा 'मधुपा' कहा गया है।

अश्विनों का प्रधान वाहन रथ है, जो पूर्णरूपेण स्वर्णिम है तथा ऋभुओं द्वारा निर्मित है। यह मन से भी अधिक त्वरित गति वाला है। इस रथ का वाहन प्रायः हंस या श्येन करते हैं, परन्तु कभी–कभी अश्व भी करते हैं। यदा–कदा इस कार्य को ककुह (पंख–युक्त अश्व) तथा रासभ भी करते हैं। यह रथ द्युलोक तथा सूर्य की परिक्रमा करता है।

अश्विन् किसी भी प्रकार की आपत्ति में सद्यः सहायता प्रदान करने वाले अद्वितीय देवता के रूप में विख्यात हैं। ये असाध्य से असाध्य व्याधि को शीघ्र दूर कर देते हैं। इसीलिए इन्हें 'दिव्य भिषक्' कहा गया है। अन्धों, रुग्णों तथा पंगुओं की पूर्ण सहायता करते हैं। ये देवताओं तक के चिकित्सक हैं तथा इनकी अमरता को अक्षुण्ण रखने के लिए प्रयत्नशील रहते हैं। ये अपने आराधकों को अपार धन प्रचुर सन्तान प्रदान करते हैं।

ऋग्वेद अश्विनों के सहायताविषयक अनेक कथाओं का उल्लेख करता है। उदाहरणार्थ, इन्होंने ये वृद्ध तथा तिरस्कृत च्यवन को नव यौवन प्रदान करके अनेक कुमारियों का पति बनाया, असहाय विमद के लिए अपने रथ के द्वारा पत्नी लाये, विश्वक के लिए उसके लुप्त पुत्र विष्णापू को लाये, सागर के मध्य भयंकर लहरों से आक्रान्त सुकुमार भुज्यु का उद्धार किये, रेभ, वन्दन, अत्रि आदि को गर्त से ऊपर निकाले तथा नपुंसक पति वाली पत्नी को पुत्र प्रदान किये।

ऋग्वेद के ये अन्त्यन्त महत्त्वपूर्ण देवता अश्विन्द्वय भी परवर्ती साहित्य पुराणों, महाकाव्यों इत्यादि में महत्त्वहीन हो जाते हैं।

अग्नि

वैदिक देवताओं में अग्नि अत्यन्त महत्वपूर्ण देवता है। ऋग्वेद के लगभग 200 सूक्तों में अग्नि की स्तुति की गई है। अग्नि के सम्बन्ध में कतिपय मुख्य तथ्य इस प्रकार है–

ऋक्संहिता का प्रथम मन्त्र अग्नि देवता को ही सम्बोधित किया गया है तथा प्रथम पद भी 'अग्निम्' ही है। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि ऋग्वैदिक देवताओं में अग्नि प्रधान देवता हैं। अग्नि का अर्थ है– वह देव जो यज्ञ में प्रदान की गयी हवि को देवताओं तक पहुँचाता है। ऋग्वेद के तीन प्रमुख देवताओं में अग्नि का द्वितीय स्थान है। ऋग्वेद के 200 सम्पूर्ण सूक्तों के अतिरिक्त अन्य अनेक सूक्तों में अन्य देवताओं के साथ अग्नि की स्तुति की गयी है। प्रायः ऋग्वेद के सभी मण्डलों में प्रारम्भिक सूक्त अग्नि को ही सम्बोधित किये गये हैं।

अग्नि शब्द की व्युत्पत्ति 'अज्' धातु से सम्भावित है, फलतः इसका अर्थ गतिमान् होता है। निरुक्तकार यास्क 'अग्नि' शब्द का निर्वचन करते हुए कहते हैं कि अग्नि अग्रणी होता है, यज्ञों में सबसे अग्र (प्रथम) वह ले जाया जाता है। अथवा तृण या काष्ठा आदि को अपना अंग बना लेता है। बृहद्देवताकार शौनक यास्क का ही अनुसरण करते

हुए अग्नि का निर्वचन प्रस्तुत करते हैं। स्थौलाठीवि नामक आचार्य के अनुसार यह अकोपन होने के कारण स्निग्ध नहीं करता है, अर्थात् सब रसों को शुष्क कर देता है या रुक्ष कर देता है। अतएव अग्नि नाम से अभिहित होता है। शाकपूणि नामक आचार्य का मत है कि अग्नि शब्द 'इण्', 'अञ्जू' या 'दह्' और 'णीञ्' इन तीन धातुओं से निष्पन्न हुआ है। 'इण्' से अकार तथा 'अञ्जू' या 'दह्' से गकार को लेकर 'णीञ्' (नी) में मिला देने पर 'अग्नि' शब्द निष्पन्न हो जाता है।

अप्, उषस्, त्वष्टा, द्यावापृथिवी और विष्णु को अग्नि का उद्भावक कहा गया है, वह दो अरणियों के संघर्ष से उत्पन्न होता है। अरणियों में ऊपर वाली अरणि को पति और नीचे वाली अरणि को पत्नी कहा गया है, जिनके संयोग से शिशुवत् अग्नि की उत्पत्ति होती है। अग्नि को दस युवतियों से भी उत्पन्न कहा गया है। ये दस युवतियाँ मनुष्य के हाथों की दसो अंगुलियाँ ही हैं। अग्नि को 'सहसःपुत्र' भी कहा गया है क्योंकि अग्नि को उत्पन्न करने के लिए सहस् (शक्ति) भी लगानी पड़ती है।

अग्नि का धर्म है प्रकाशित होना। वह अंगारमय है, प्रकाशमय है (अंगिरा, राजन्तम्) ऋग्वेद मे अग्नि को घृतपृष्ठ, घतृप्रतीक, घृतलोम, मद्रजिह्व, शौचिषकोश आदि भी कहा गया है। वे भास्वर ज्वालाओं वाले हैं। उनका वर्ण भास्वर है। वे हिरण्यरूप हैं। से सूर्य की भाँति चमकते हैं। उनकी प्रभा उसा, सूर्य एवं विद्युत् जैसी है।

अग्नि यज्ञ में देवताओं को बुलाता है। वह उत्तम धनादिकों का प्रदाता है। अग्नि के माध्यम से यजमान को पुष्टि यश और वीर पौत्रादि की प्राप्ति होती है। यह यज्ञों का रक्षक और सत्य का प्रकाशक है। कर्मफल को प्रदान करना भी अग्नि का ही कर्म है। अग्नि स्वयं प्रकाशवान् होने से रात्रि को प्रकाशित करता है। जिस प्रकार एक पिता अपने पुत्र के लिए कल्याण–भावना रखता है उसी प्रकार अग्नि भी कल्याणकारी है। अग्नि यज्ञ के प्रत्येक रहस्य को जानता है, इसीलिए जातवेदस् भी कहा गया है। जिस प्रकार ऋतु और युद्धकर्म इन्द्र के अधीन हैं उसी प्रकार आर्यों के सारे गृहकृत्य अग्नि के अधीन हैं। अग्नि के सम्बन्ध में यह भी कहा गया है कि जिस यज्ञकर्म का साक्षी अग्नि होता है, केवल उसका ही फल देवताओं के पास पहुँचता है।

अग्नि का प्राकृतिक आधार स्पष्ट है। हमारे सम्मुख अग्नि के मुख्यतः तीन रूप दृष्टिगोचर होते हैं– काठों से उत्पन्न दावाग्नि, जलों से उत्पन्न वाडवाग्नि एवं द्युलोक से उत्पन्न वैद्युताग्नि। ये अग्नि के रूप में मान्यता प्राप्त कर चुके हैं। यद्यपि जलों के संघर्षण से अग्नि की उत्पत्ति नहीं होती तथापि वडवाग्नि को ही सम्भवतः अप् से प्रादुर्भूत अग्नि माना गया है। आधुनिक युग में विद्युत शक्ति की उत्पत्ति भी जलों के द्वारा की जाती है। बादलों के पारस्परिक टकराव से उतपन्न आकाशीय विद्युत् भी तो जलों से ही उत्पन्न मानी जा सकती है। क्योंकि बादल भी जलों के ही रूप हैं। इस प्रकार यह सिद्ध है कि वैदिक अग्नि देवता का प्राकृतिक आधार भी अगिन के उपर्युक्त रूप ही है।

अग्नि का मानव–जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध है। सम्पूर्ण गृहकृत्य के लिए अग्नि की महती आवश्यकता है। प्रत्येक घर में उसका निवास है। अग्नि ही एक ऐसा देवता है जो मनुष्य के जन्म से मृत्युपर्यन्त उसका साथ देता है। अग्नि के माध्यम से ही इस संसार में प्रकाश का जन्म हुआ है। वैदिक युग में ऋषियों के समक्ष अग्नि की उपादेयता सर्वाधिक सिद्ध हुई। इसका मुख्य कारण यह है कि अग्नि की सहायता से ही यज्ञानुष्ठान, भोजन–पाक तथा शीत इत्यादि से रक्षा हो जाती है।

इसलिए वैदिक ऋषि अग्निदेव से अपने उन्नति एवं कल्याण की प्रार्थना करता है।

सविता

ऋग्वेद के द्युस्थानीय देवों में सविता का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। ऋग्वेद के ग्यारह सूक्तों में इनकी स्तुति की गयी है। कुछ अन्य सूक्तों में कतिपय अन्य देवताओं के साथ भी सविता का स्तवन प्राप्त होता है। सविता शब्द 'सू' धातु से 'तृच्' प्रत्यय लगने पर निष्पन्न होता है। 'सू' धातु 'प्रेरित करने' के अर्थ में होती है। अतः इस शब्द का अर्थ हुआ 'प्रेरक'। सविता के सम्बन्ध में कतिपय प्रमुख तथ्य इस प्रकार है–

सविता स्वर्णमय देव हैं। इनके हाथ, जिह्वा, नेत्र सभी स्वर्णिम हैं। इनके केश पीले रंग के हैं। ये स्वर्ण की कील वाले रथ पर चलते हैं। इनका रथ भी स्वर्णजटित है। इनके रथ को शुभ्रवर्ण वाले दो चमकीले अश्व खींचते हैं। इनके शरीर से निकलने वाली किरणें भी विचित्र रंगों ये युक्त हैं।

अन्धकारमय लोक से आते हुए सवितादेव देवों एवं मनुष्यों को अपने कार्यों में युक्त कराते हैं। रोगों को नष्ट करते हैं। सूर्य का पथ–प्रदर्शन करते हैं। सबकों विविध रूपों में देखने वाले सविता देव द्युलोक एवं पृथिवी लोक के मध्यवर्ती स्थान में विचरण करते हैं। राक्षसों एवं मायावियों को नष्ट करते हुए सविता देव स्थित होते हैं। सविता देव जीवधारियों को मार्गप्रदर्शन करने वाले एवं अच्छी प्रकार से सुख प्रदान करने वाले देव हैं। इनका सर्वप्रधान कार्य रात्रिजनित अन्धकार को नष्ट करना एवं सभी जीवों को अपने–अपने कार्यों में प्रवृत होने के लिए प्रेरित करना हैं। ये अपने भक्तों की रक्षा करके उनके लिए मनोवांछित फल प्रदान करते हुए उन्हें पापरहित बना देते हैं। पृथिवी की आठों दिशाओं, अन्तरिक्षादि तीन लोकों एवं सात नदियों को सवितादेव विशेष रूप से प्रकाशित करते हैं। सविता को प्राण (शक्ति) देने वाला देव भी कहा गया है।

सविता देव का निवास स्थान द्युलोक है। ऋग्वेद. 1/35 के मन्त्र सं. 6 में एक विशेष तथ्य उद्घाटित किया गया है, जिसके अनुसार तीन लोक हैं, जिसमें से दो लोक सविता देव के समीप में स्थित हैं। प्रसिद्ध वेदभाष्यकार आचार्य सायण ने इसका अर्थ द्युलोक एवं भूलोक किया है जिसके कारण इन दोनों लोकों का सूर्य द्वारा प्रकाशित होना बतलाया है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि सवितृ देव का निवास–स्थान भले ही द्युलोक है, परन्तु वह अपना कार्यस्थल भूलोक को ही बनाये हैं। मानव–हितकारिणी चन्द्र नक्षत्रादि ज्योतियाँ एवं जल सवितृलोक में ही सविता के आधार पर स्थित हैं।

सविता देव को सूर्य के साथ समीकृत किया गया है। वास्तव में उषःकाल एवं सूर्योदय काल के मध्य सविता का आगमन होता है। प्रकाशित करने का कार्य सूर्य की सर्वप्रमुख विशेषता है, अतः सवितृ को भी सूर्य मान लिया गया है। ऋग्वेद के अधिकांश मन्त्रों में सूर्य और सविता एक ही देवता के रूप में पुकारे गये हैं।

यद्यपि अनेक मन्त्रों में सविता को सूर्य से पृथक् माना गया है। जैसे.....अपामीवां बाधते वेति सूर्यमभि कृष्णेन रजसा द्यामृणोति।।(ऋ.1/35/9) उपर्युक्त तथ्य पर विचार करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि सविता सूर्य का ही एक विशिष्ट अभिधान है, क्योंकि सूर्य ही विश्व के महान् प्रेरक हैं। वे ही सम्पूर्ण प्राणियों को अपने महान् आगमन के द्वारा प्रेरणा प्रदान करते हैं। सविता सूर्य की प्रेरकशक्ति के रूप में भी स्तुत हुए हैं। अतः स्पष्ट होता है कि सूर्य ही अपने पूर्णरूपेण उदय के पूर्व इस संज्ञा को प्राप्त करते हुए लोकप्रेरक बन जाते हैं। निरुक्तकार यास्क का स्पष्ट कथन है– (सविता सर्वस्य प्रसविता)।

वैदिक देवताओं में सविता देव उपासना की दृष्टि से अपना अद्वितीय महत्त्व रखते हैं। ऋग्वेद के अन्य किसी भी देवता की उपासना इतनी श्रद्धा और भक्ति से नहीं हो सकी है। वैदिक ऋषियों ने बुद्धि की प्रेरक शक्ति के रूप में एक अति शक्तिशाली मन्त्र का दर्शन किया है जिसे गायत्री मन्त्र के नाम से जाना जाता है। यह गायत्री मन्त्र पूज्य सविता देव की स्तुति रूप में है। इसमें सविता देव की शक्ति का आह्वान बुद्धि को सन्मार्ग में प्रेरित करने के उद्देश्य से किया गया है; ऊँ भूर्भुवः स्वः। तत्सवितुर्वरेण्यम्। भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात्।

आज इस वैज्ञानिक युग में भी सविता देव के इस मन्त्र की उपासना करके अनेकाने भक्त अपना एवं जगत् का कल्याण कर रहे हैं। आधुनिक विज्ञान भी इस मन्त्र की रहस्यात्मिका शक्ति के अनुसन्धान में संलग्न होकर इसके ऊपर श्रद्धायुक्त बना हुआ है।

उषा

ऋग्वेद के 20 सूक्तों में उषा देवी की स्तुति की गयी है। उषा के नाम का उल्लेख तो लगभग 200 बार से भी अधिक हुआ है। उषा 'वस्' प्रकाशित होना अर्थ वाली धातु से निष्पन्न है। उषा शब्द का अर्थ है– 'प्रकाशित होने वाली देवी'। उषा के वर्णन में वैदिक ऋषि ने अपनी काव्य–प्रतिभा का पूर्ण परिचय दिया है। उषा से सम्बन्धित कतिपय तथ्य इस प्रकार है–

उषा को अमर तथा अजर कहा गया है। उनका स्वरूप अविनाशी है, परन्तु उसे अनेक स्थानों पर द्युलोक की पुत्री कहा गया है। वह सुजाता है अर्थात् उसका जन्म किसी उच्चकुल में हुआ है। अनेक स्थलों पर उषा को प्रतिदिन उत्पन्न होने वाली भी कहा गया है।

वैदिक साहित्य में उषा देवी के समान मनोहारी स्वरूप अन्य किसी भी देवता का नहीं प्राप्त होता। उषा नर्तकी की भाँति मोह परिधान में चमचमाती हुई धरती और अम्बर में अपने प्रकाश को फैला देती है। उषा अपनी अरुणिमा, अपने रुचिर मुखचन्द्र, झिलमिलाता वक्षःस्थल, पतली–पतली लाल–लाल परियों जैसे खुली अँगुलियाँ, आकाश के रंगमंच पर नवेला नृत्य और दूधभरा हास्य, इन सबके द्वारा वैदिक ऋषि को विवश कर देती हैं। अपने स्वरूप–गान के लिए तथा अपना आपा खो बैठने के लिए। उषा स्वर्णिम वर्ण वाली, सुन्दर मुख वाली तथा किरणों से अभिव्यक्त होने वाली है। वह नित्य युवती है, नवोढा है।

उषा का अधिकरतर सूर्य से सम्बन्धित बतलाया गया है। वह सूर्य की पत्नी है। सूर्य एक रसिक युवक की भाँति उसका अनुगमन करता है। एक स्थान पर तो उषा को सूर्य की माता तथा सूर्य को उसका कान्ति–पुत्र कहा गया है। अग्नि को भी उषा का प्रेमी माना गया है। उषा अग्नि को भड़काती है तथा अग्नि उससे मिलने के लिए अपनी लपटों को ऊपर उठाता हैं। अश्विनी–कुमारों को भी उषा का प्रेमी कहा गया है। रात्रि उषा की बड़ी बहन है। सविता भी उषा का प्रेमी कहा गया है।

उषा को प्रातःकाल की अधिष्ठात्री देवी के रूप में चित्रित किया गया है। सूर्योदय से थोड़ा पहले का समय की उषा के आगमन का समय माना गया है। उषाकाल में ही धरती और अम्बर में प्रकाश का प्रसरण होने लगता है। पक्षियों का मधुर कलरव भी इसी समय प्रारम्भ हो जाता है। उषाकाल के पश्चात् ही सूर्योदय होता है, इसीलिए

सूर्य को उषा के पीछे आते हुए प्रेमी के रूप में कहा गया है। उषा के आते ही सभी जीवधारी विचरणशील हो जाते हैं।

उषा का प्रमुख कार्य प्रकाश का वितन्वन करना है। प्रकाश फैलाने के साथ ही साथ वह अन्धकार को दूर भगा देता है। सभी जीवों को कार्य करने के लिए प्रेरित करना, भक्तों या उपासकों की आयु बढ़ाना, धन प्रदान करना, अपने प्रकाश से स्तोता के शत्रुओं को दूर भगाना, द्वेष करने वाले लोगों को पृथक् करना तथा दिनों का नेतृत्व करना उषा देवी के प्रमुख कार्य है। उषा को विविध उपहारों को प्रदान करने वाली देवी भी कहा गया है।

उपुर्यक्त गुणों के कारण ही वैदिक ऋषि उषा देवी से अपने लिए धन, प्रदान करने, शत्रु को दूर भगाने, आयु को बढ़ाने तथा आशीर्वादों से अपनी रक्षा करने के लिए प्रार्थना करता है।

ऋग्वेद संहिता के मात्र तीन सूक्त सम्पूर्णतः पर्जन्य के लिए कहे गये हैं तथा इनका नाम भी मात्र तीस ही बार आया हुआ है। पर्जन्य के स्तवन का आधार शुद्ध भौतिक है। यास्क के अनुसार 'तृप्' धातु से इस शब्द को व्युत्पन्न माना गया है। पर्जन्य की मुख्य विशेषताएँ इस प्रकार हैं–

पर्जन्य वृष्टि करने वाला देव है। इसकी प्रधान विशेषता जल बरसाना ही है। यह जलमय रथ पर आरूढ़ होकर भ्रमण करता है। जलचर्म को ढीला करके उसे नीचे की ओर खींचकर वृष्टि करता है। पर्जन्य शीघ्र वृष्टि कराने वाला देवता है। जब पर्जन्य आकाश को वर्षायुक्त मेघ से युक्त कर देता है तब यह सिंह की भाँति गर्जन करता है। पर्जन्य अधिक समय तक होती हुई वर्षा को रोकता है।

पर्जन्य को विश्व का पिता एवं पृथिवी को माता कहा गया है। पर्जन्य ही वर्षा द्वारा पृथिवी में जलरूपी वीर्य धारण करके लोगों के लिए अन्नादि खाद्य पदार्थों की उत्पत्ति का प्रधान कारण बनता है। अतः इसको पिता कहना अनुचित नहीं है।

पर्जन्य देव का मुख्य कार्य तो वृष्टि करना है, परन्तु साथ ही कतिपय अन्य कार्य भी इसके द्वारा किये जाते हैं। दुष्काल (अकाल) को नष्ट करना, वज्रपात द्वारा वृक्षों को नष्ट कर डालना तथा राक्षसों का बधकर डालना भी पर्जन्य देवता के प्रधान कार्यों में गिने जाते हैं। पर्जन्य देव की महाप्रलयकारी शक्ति के सामने सम्पूर्ण चराचर जगत् नतमस्तक हो जाता है। पृथिवी को सत्त्वयुक्त बनाना, औषधियों को पल्लवित–पुष्पित करना इसकी प्रमुख विशेषताएँ हैं।

पर्जन्य अन्य अनेक देवताओं के साथ घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित है। मरुत् एवं वात देवताओं से यह अपना अभिन्न सम्बन्ध रखता है। ऋग्वेद के दो मन्त्रों में इसकी स्तुति अग्नि के साथ भी की गयी है। वर्षा के देवता के रूप में इसकी तुलना इन्द्र से की गयी है। पृथिवी को पर्जन्य की पत्नी कहा गया है, परन्तु इसकी पत्नी के रूप में 'वशा' का भी उल्लेख मिलता है।

पर्जन्य को सोम का पुत्र कहा गया है। इस तथ्य से किसी भी विद्वान् को आपत्ति नहीं होनी चाहिए कि पर्जन्य देव निश्चित रूप से भौतिक पर्जन्य के मानवीकृत रूप है। प्राचीन ऋषियों को वर्षा एवं गर्जन की शक्ति के रूप में पर्जन्य देवता का दर्शन हुआ है।

पूषा

पूषा देव सूर्य मंगलकारी एवं पोषणकारी पक्ष का प्रतिनिधित्व करते हैं। 'पूषा' शब्द पोषणार्थक 'पूष्' धातु से निष्पन्न हुआ है, जैसा कि यास्क भी कहते हैं कि आदित्य का जो रूप रश्मियों से सबको पुष्ट करता है, वह पूषा कहा जाता है। बृहद्देवताकार शौनक भी कहते हैं कि पूषा पोषण करते हुए पृथिवी को पुष्ट करता है तथा रश्मियों से अन्धकार को दूर करता है।

पूषा का 'आघृणि' विशेषण से युक्त होना, सूर्या से सम्बद्ध होना, चोरों–हिंसकों आदि का निवारण करना, उच्च आकाश में स्थित होना, सविता की प्रेरणा से विचरण करना, प्रच्छन्न धन को प्रकाशित करना इत्यादि बातें पूषा एवं सूर्य के तादात्म्य को द्योतित करती हैं। पूषा मूलतः सूर्य रहे होंगे। कालान्तर में जाति–विशेष के लोगों ने इन्हें से पृथक् करके अभिनव रूप प्रदान कर दिया होगा तथा मौलिक सिद्ध करने के लिए सूर्येतर कतिपय वैशिष्ट्य इनमें आरोपित कर दिया होगा, जो उन लोगों की आवश्यकता के अनुरूप रहे होंगे।

ऋग्वेद में पूषा के लिए आठ प्रयुक्त हैं तथा इनके नाम का लगभग 120 बार उल्लेख किया गया है। इसके अतिरिक्त एक सूक्त में इन्द्र के साथ तथा दूसरे सूक्त में सोम के साथ इनका स्तवन किया गया है। इस प्रकार सूक्तसंख्या की दृष्टि से पूषा विष्णु से किंचित् स्तर पर है।

धूमिल व्यक्तित्व वाले पूषा के मानवीय रूपविषयक वैशिष्टय न्यून हैं। इनके हस्त, घुंघराले केश तथा श्मश्रु (मूंछ–दाढ़ी) का उल्लेख किया गया है। शतपथ–ब्राह्मण में पूषा को दन्तहीन बताया गया है। ये स्वर्णिम वर्छी वाले, नोकीले आरा वाले तथा अंकुश वाले हैं। ये रथ से युक्त हैं तथा सर्वोत्तम सारथी कहे गये हैं। इनके रथ का वहन बकरे करते हैं।

पूषा सबको एक साथ स्पष्ट रूप से देखने में समर्थ हैं। इन्हें अपनी बहन का प्रणयी कहा गया है। देवताओं ने इनके इस प्रणयातिरेक को देखकर इनका परिणय सूर्या के साथ कराया। ये कामान्ध होकर अन्तरिक्षस्थ समुद्र में सन्तरण करने वालीं स्वर्णिम नावों के द्वारा सूर्या के दौत्य कार्य को सम्पादित करने के लिए प्रस्थान किये।

पूषा का निवास–स्थल द्युलोक में है। ये सबका निरीक्षण करते हुए विचरण करते हैं। ये मार्गविषयक अपनी सुविज्ञता के कारण अपने आराधकों को अत्यन्त निर्भयतापूर्वक देवताओं के निवास–स्थान का ले जाते हैं। ये पशुओं के पीछे–पीछे चल कर उनकी रक्षा करते हैं। ये खोये हुए पशुओं को पुनः वापस लाने के लिए, मार्ग में सम्भाव्य विघ्न बाधाओं के निवारण के लिए एवं हिंसक वृकों तथा भयंकर चारों के परिहार के लिए बार–बार प्रार्थित होते हैं। ये प्रत्येक मार्ग के परिरक्षक, अधिपति एवं निर्देशक हैं।

अन्य कतिपय देवताओं की भाँति पूषा को भी 'असुर' कहा गया है। ये अदब्ध रक्षक, संग्राम में सहायक एवं आराधक के रखा हैं। इन्हें भी 'दस्त्र' तथा अग्नि एवं इन्द्र की भाँति 'दस्म' कहा गया है।

पूषा की उपर्युक्त विशेषताएँ सम्पूर्ण वैदिक वाङ्मय में विद्यमान है। वैदिकोत्तर वाङ्मय में पूषा महत्त्वहीन हो जाते हैं। इनका स्वतन्त्र व्यक्तित्व सूर्य में विलीन हो जाता है। यत्र–तत्र इनके नाम का उल्लेख मात्र प्राप्त होता है।

सोम

'सोम' शब्द पेषणार्थक 'सु' धातु से निष्पन्न है। ऋग्वेद के अनुसार सोम पर्वतों पर उद्भूत होता था तथा इसका विशेष सम्बन्ध मूजवत पर्वत से था। ऋग्वेदानुसार वरुण सोम को चट्टानों पर रखते हैं। ऋग्वेद में इनका आनयन एक श्येन पक्ष करते हैं। सोम सर्वोत्तम ओषधि एवं वनस्पतियों का अधिपति है तथा झुकी हुई शाखाओं वाला होता है। यह रोग का शमन करने वाला तथा दिर्घायुष्य प्रदान करने वाला है। सोम–पान अमरत्व को प्रदान करता है। ऋग्वेद में सोम 'वृत्रहन्' (वृत्राणां हन्ता) है। ऋग्वेद के अनुसार विवस्वान्, त्रित तथा आप्त्य सोम के प्रथम सवनकर्ता हैं।

सोम ऋग्वेद के एक प्रख्यात देवता हैं, क्योंकि नवम मण्डल के सम्पूर्ण 114 सूक्त एवं इतर मण्डलों के 6 सूक्त सोम का गुण–कीर्तन करते हैं। इनके अतिरिक्त आंशिक रूप से और चार–पाँच सूक्त सोम का गुण–वर्णन करते हुए उपलब्ध है। इन्द्र अग्नि, पूषा या रुद्र के साथ देवयुग्म के रूप में सोम अन्य छः सूक्तों में भी स्तुत हुए हैं।

इन्द्र तथा वरुण की तुलना में वरुण का मानवीय शरीर अत्यन्त विकसित हो सका है, जिसका मुख्य कारण यहीं है कि ऋषियों के सम्मुख सोम का वानस्पतिक रूप सर्वदा विद्यमान् रहा। फलतः सोम की मानवीय काया या क्रिया–कलापों के सम्बन्ध में अति न्यून उल्लेख हो सका है। नवम मण्डल में मुख्यतः स्थूल सोम का निरूपण किया गया है। सोम–लता के पीस जाने वाले भाग को 'अंशु' कहते हैं। डण्ठल से अतिरिक्त समूची सोम–लता को 'अन्धस्' कहते हैं। सोम के लिए 'इन्दु' (दीप्तिमान् बूँद) शब्द का बहुतायत प्रयोग मिलता है। 'द्रप्स' का प्रयोग सीमित स्थानों पर मिलता है। सोम–रस के लिए मधु, पितु तथा मद शब्दों का भी प्रयोग किया गया है। काष्ठ–पात्रों में रखे हुए सोम–रस को अनेक स्थलों पर 'समुद्र' शब्द से अभिहित किया गया है। सोम का रंग बभ्रु (भूरा) अरुण एवं अनेक बार हरित बताया गया है।

सोम को ऋग्वेद में तीन आवासों वाला कहा गया है। एक स्थल पर इनके आवास को 'परमे व्योमन्' में कहा गया है। सोम का इन्द्र एवं अग्नि से घनिष्ठ सम्बन्ध है; क्योंकि प्रथम, महान् सोम–पाता हैं तथा द्वितीय, सोम की ही भाँति यज्ञीय देवता हैं।

सोम को ऋग्वेद में उक्षा, वृषन् तथा वृषभ एवं त्वरित गति–युक्त कहा गया है। सोम–रस के पीतवर्ण होने के कारण इनके शारीरिक गुण को प्रकाशमान् बताया गया है। ये सूर्य की भाँति अपनी रश्मियों से पृथिवी एवं स्वर्ग को आपूर्ण कर देते हैं। ये सूर्य को भी प्रादुर्भूत एवं प्रकाशित किये हैं तथा उषाओं को दीप्तिमती बनाये हैं। सोम–रस को अत्यधिक मादक तथा शक्तिप्रद बताया गया है। सोम–रसपान के प्रभाव से ही इन्द्र ने वृत्र जैसे दुर्धर्ष शत्रु का संहार किया। अतएव सोम को इन्द्र के सदृश वृत्रों का हन्ता तथा पुरों का भेत्ता बताया गया है।

सोम अपने उपासकों को प्रचुर धन, भोजन, अश्व आदि प्रदान करते हैं, शत्रुओं से उनकी रक्षा करते हैं तथा राक्षसों का संहार करते हैं। इसीलिए इतर देवताओं की भाँति इन्हें भी 'रक्षोहन्' विशेषण दिया गया है। ऐतरेय–ब्राह्मण के अनुसार चन्द्रमा देवताओं का सोम है। शतपथ–ब्राह्मण के अनुसार देवताओं का अन्य सोम अर्थात् चन्द्रमा है। छान्दोग्य–उपनिषद् के अनुसार भी सोम चन्द्रमा है। ब्राह्मण–ग्रन्थों के गाथानुसार चन्द्रकलाओं में परिवर्तन का कारण देवताओं तथा वितरों द्वारा (सुधारूप) सोम–रस का पान है।

पुरुष

ऋग्वेद–संहिता के दशम मण्डल में कतिपय ऐसे सूक्त उपलब्ध होते हैं जो देव–स्तुतियों से भिन्न हैं। पुरुष–सूक्त भी इन्हीं सूक्तों में से एक है। इस सूक्त में सृष्टि–उत्पत्ति से सम्बन्धित वर्णन किया गया है। इस सूक्त में आदिपुरुष के शरीर को एक यज्ञ का रूप दिया गया है। कतिपय परिवर्तनों के साथ यह सूक्त सामवेद, शुक्ल–यजुर्वेद तथा अथर्ववेद में भी उपलब्ध होता है।

पुरुष सहस्र शिरों, सहस्र नेत्रों एवं सहस्त्र पैरों वाला देव है। यहाँ पर 'सहस्र' शब्द उपलक्षण–मात्र है। सहस्र का अर्थ असंख्य है। वह सम्पूर्ण भूमण्डल को व्याप्त करने के पश्चात् भी कुछ अवशिष्ट रहता है। इस कथन का तात्पर्य यह है कि पुरुष ही सर्वव्यापी ईश्वर है जो संसार से सर्वत्र व्याप्त है तथा जीवों के सभी क्रिया–कलापों का निरीक्षण करते हुए उसे कर्मफल भी प्रदान करता है।

विराट् पुरुष का एक–चौथाई भाग मायोपहित होकर जन्म–मरण के बन्धन में पड़ता रहता है। उसका तीन–चौथाई भाग अपेक्षाकृत अत्यधिक उत्कृष्ट है तथा विनाश–रहित है एवं द्युलोक में स्थित है। उसका एक–चौथाई भाग ही जड़ और चेतन के रूप में व्यवस्थित होता है।

सृष्टि की उत्पत्ति के लिए देवताओं, ऋषियों एवं साध्यों ने जो यज्ञ किया, उसमें पुरुष को ही हवि के रूप में कल्पित किया। यह यज्ञ में घृत, ईधन एवं हविष् के रूप में क्रमशः वसन्त, ग्रीष्म और शरद् ऋतुओं का प्रयोग हुआ।

इस यज्ञ को मानस–यज्ञ के प्रतीक के रूप में भी मानने की अवधारणा विद्वानों में व्याप्त है। इस मानस–यज्ञ में सत्त्व, रजस् एवं तमस् गुण ही प्रधान हैं। इन्हें ही आज्य, ईधन और हवि के रूप में परिकल्पित किया गया है।

उसी पुरुष से विराट् की उत्पत्ति हुई। पशु–पक्षी भी उसी से उत्पन्न हुए। पुरुष के मुख से ब्राह्मण, बाहुओं से क्षत्रिय, उरुओं से वैश्य एवं दोनों पैरों से शूद्र उत्पन्न हुए। सूर्य, चन्द्र, इन्द्राग्नी और वायु आदि देवताओं की उत्पत्ति क्रमशः पुरुष के नेत्र, मन, मुख और प्राण से हुई है। उपर्युक्त देवों के निवास के लिए द्युलोक, अन्तरिक्ष एवं पृथिवीलोक की उत्पत्ति क्रमशः शिर, नाभि एवं पादों से हुई। ऋक्, यजुष, सामन् एवं छन्दस् की भी उत्पत्ति उसी से हुई।

हिरण्यगर्भ (प्रजापति)

ऋग्वैदिक देवताओं के स्वरूप का अध्ययन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि ऋग्वेद में एक परम सत्ता की स्तुति विविध नामों से ही गयी है। ऐसा इसलिए कि सभी देवताओं की स्तुति में गुण–साम्य दृष्टिगत होता है। हिरण्यगर्भ का स्वरूप भी इस तथ्य का अपवाद नहीं कहा जा सकता।

युगान्तकाल में सम्पूर्ण सृष्टि को महान् जलराशि आवृत कर लेती है। उसी से देवताओं के स्वरूप तथा बीज रूप में स्थित हिरण्यगर्भ (प्रजापति) नूतन–सृष्टि–सम्पादनार्थ आविर्भूत होता है।

प्रजापति ने अपनी महिमा से सर्वत्र व्याप्त जल को इस योग्य बना दिया कि वह जल सृष्टि रूप में वर्तमान प्रजापति को गर्भ के रूप में धारण कर सके तथा सृष्टि उत्पन्न करने में समर्थ अग्नि को उत्पन्न करे। सृष्टि की समुत्पादिका जलराशि को भी उत्पन्न

करने वाला प्रजापति ही है। वह जड़, चेतन–सबका उत्पादक है। वह आत्मदा, बलदा भी है। जड़, चेतन–उभयविध जगत् के आधारभूत लोकों को निर्मित करने का कार्य भी प्रजापति ही करता है। उसी ने पृथिवी एवं द्युलोक को भी निर्मित किया है।

प्रजापति ही सम्पूर्ण सृष्टि को धारण करके उसमें व्याप्त है। वर्तमान जगत् तथा भूत जगत् को प्रजापति ने ही व्याप्त कर रखा है। सूर्य को भी धारण करने वाला प्रजापति ही है। उसी का आधार बनाकर सूर्य उदित होता है तथा प्रकाशित होता है। वह सभी द्विपद एवं चतुष्पद् जीवों का शासक है। प्राणियों के जन्म और मृत्यु उसी के अधिकार में हैं। उसके प्रभाव से द्युलोक एवं पृथिवीलोक के स्वामी काँपते रहते हैं। विभिन्न दिशाओं–उपदिशाओं पर भी उसका आधिपत्य है।

वैदिक ऋषि अपने उपास्य देव की पूजा करते हुए नहीं अघाता है। वह अपने सभी कार्यों की सिद्धि के लिए अपने उपास्य देव का आवाहन करता है। प्रजापति का आवाहन करते हुए ऋषि कहता है कि हे सत्य–धर्मा प्रजापति, तुमने पृथवी तथा द्युलोक को उत्पन्न किया है, तथा आह्लादकारी चन्द्रमा एवं विस्तृत जलराशि को उत्पन्न किया है, अतः हमें पीड़ित मत करो। हे प्रजापति! तुमसे अतिरिक्त दूसरे किसी ने भी इस सम्पूर्ण उत्पन्न पदार्थों को व्याप्त नहीं किया है। मैं जिस किसी इच्छा से तुम्हें हविष् प्रदान करूँ, वे हमारी इच्छाएँ पूर्ण हों तथा हम धनों के स्वामी बन जायें।

ऐतरेय ब्राह्मण (3/29) के अनुसार एक बाद इन्द्र ने प्रजापति से अपने लिए उनके महत्त्व की याचना की। इस पर प्रजापति ने इन्द्र से कहा कि मैं अपना महत्त्व तुम्हें प्रदान करके स्वयं क्या बनूँगा (अर्थात् कः स्याम्)। इन्द्र ने उत्तर दिया कि जो कुछ तुम कह रहे हो वही अर्थात् (कः) बन जाओ? इस प्रकार प्रजापति का नाम 'कः' पड़ गया ।

रुद्र

ऋग्वेद में रुद्र देवता का वर्णन बहुत अधिक नहीं किया गया है और उसका वर्णन कुछ ही ऋचाओं में है, तथापि रुद्र को अत्यधिक शक्तिशाली एवं भयंकर रूप में चित्रित किया गया है।

स्वरूप रुद्र के बाह्यरूप का मनोहारी वर्णन मिलता है। उसके सुन्दर होठ हैं, जुल्फों वाले केश हैं, रंग भूरा है, आकृति मसृण और कान्तिमान् है। रुद्र मध्याह्नकालीन सूर्य के समान चमकता है। वह सोने के आभूषणों को धारण करता है और गले में चमकदार निष्ट (हार) को धारण करता है। उसके साथ विशेष आयुध है। वह वज्र को धारण करता है तथा बिजली की सी चमक वाले बाणों को अपने पास रखता है।

ऋग्वेद में रुद्र मरुतों का पिता एवं स्वामी कहा गया है। रुद्र ने इनको पृश्नि नाम की गौओं के थनों से उत्पन्न किया था। जगत् का विनाश करने में यह रुद्र शूकर के तुल्य है यह शूकर लाल रंग का स्वर्ग का शूकर है और उसको 'अरुष्' कहते हैं। वह शूकर विशालकार है।

रुद्र शक्तिशालियों से भी अधिक शक्तिशाली है, शीघ्रगामी है और फुर्तीला है। कोई देवता उसका अतिक्रमण नहीं कर सकता। वह संसार का स्वामी और पिता है। उदार, आशुतोष और शिव है। वह जगत् के पापों और पुण्यों का निरीक्षण करता है। ऋचाओं में रुद्र के भयानक बाणों का वर्णन किया है। उसका क्रोध किसी की परवाह न करने वाला, न बदलने वाला, सहन न किया जा सकने वाला और बीभत्स है। रुद्र को देवों

का अधिदेव कहा गया है। और प्रार्थन की गयी है कि वह हमें न मारे और न हानि पहुँचावे।

रुद्र के द्रोह से बचने के लिए अनेक प्रार्थनाएँ की गई हैं और यह प्रार्थना की गयी है कि वह रुद्र गौओं तथा मनुष्यों को मारने वाले वज्र से हमारी रक्षा करे। रुद्र केवल भयानक और दण्ड देने वाला नहीं है, अपितु कष्टों से बचाता भी है और दया का दान भी करता है।

रुद्र को स्वास्थ्य का देवता भी कहा गया है। उसके पास स्वास्थ्य प्रदान करने की विशेष शक्तियाँ है तथा रोगों को दूर करने वाली हजारों औषधियाँ हैं। औषधियों के लिए जलाष एवं जलाषभेषज शब्दों के प्रयोग वैदिक मन्त्रों में आते हैं।

ऋग्वेद में रुद्र की भौतिक शक्तियों के सम्बन्ध में विशेष तो नहीं कहा गया, परन्तु प्राकृतिक वर्णनों से सह आँधी उठाने वाला समझा जा सकता है। उसका दुःखद रूप नर–पशु–वृक्ष आदि को ध्वंस करने वाली बिजली के समान दिखायी देता है। उसका रूप एक ओर जहाँ कठोर है, वहीं दूसरी ओर कोमल भी है।

ऋग्वेद में यद्यपि रुद्र के सम्बन्ध में अधिक विस्तत वर्णन नहीं है और उसको अधिक महत्त्व नहीं मिला, तथापि उत्तरकाल में वह आर्यों के प्रमुखतम देवता के रूप में प्रतिष्ठित हुआ। यजुर्वेद के काल में ही उसकी प्रतिष्ठा प्राप्त होनी प्रारम्भ हो गयी थी। रुद्राष्टाध्यायी और यजुर्वेद में रुद्र को शत्रुओं का प्रतिकार करने में अनुपम सामर्थ्य में युक्त कहा गया है। एक ओर जहाँ वह शत्रुओं और द्रोहियों को रुलाने वाला है, वहीं दूसरी ओर शाश्नत का अग्रदूत है।

4.3 सारांश

वैदिक देवताओं की आकृति के विषय में जानकारी वेदों के संहिता भाग से ही प्रारम्भ हो जाती है किन्तु इसका विशद विवेचन यास्क रचित निरुक्त एवं शौनक रचित बृहद्देवता नामक ग्रन्थ में प्राप्त होता है। निरुक्त के अनुसार कुछ लोग देवताओं को पुरुषाकृति एवं चेतन मानते हैं तो कुछ अपुरुषाकृति। कुछ विचारक ऐसे भी हैं जो देवताओं को पुरुष एवं अपुरुष उभयाकृति मानते हैं।

4.4 शब्दावली

1. पुरुषाकृति – जिसकी आकृति पुरुष (मनुष्य) जैसी हो
2. अपुरुषाकृति – जिसकी आकृति अपुरुषाकृति (मनुष्य जैसी न हो)
3. झंझावात – तूफान
4. प्राग्वैदिक – वैदिककाल से पहले
5. पृथिवीस्थानीय – पृथिवी से सम्बन्धित
6. अन्तरिक्षस्थानीय – अन्तरिक्ष से सम्बन्धित
7. द्युस्थानीय – द्युलोक से सम्बन्धित
8. ऋत – सत्य/कर्मफल

4.5 सन्दर्भग्रन्थ

1. वैदिक देवताः उद्भव और विकास, लेखक–गयाचरण त्रिपाठी, प्रकाशक–राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान नयी दिल्ली एवं डी. के. प्रिंट वर्ल्ड नयी दिल्ली वर्ष– 2011 (द्वितीय संशोधित संस्करण)
2. वैदिक देवता एक ऐतिहासिक विवेचन, लेखक–डॉ. कमला प्रसाद सिंह, प्रकाशक–संस्कृत प्रकाशन नाटी इमली वाराणसी, वर्ष–1983 ई.
3. बृहद्देवता (शौनक रचित) सम्पा.–प्रो. ओमप्रकाश पाण्डेय, व्याख्याकर्त्री– डॉ. प्रज्ञा पाण्डेय, चौखम्बा कृष्णदास अकादमी, वाराणसी वर्ष–2011
4. निरुक्त (यास्क) व्याख्या– लक्ष्मण सरुप, प्रकाशन मोती लाल बनारसीदास, वाराणसी

4.6 बोध प्रश्न

1. देवताओं के आकार का परिचय दीजिये।
2. देवताओं की कोटियों एवं संख्या पर प्रकाश डालिये।
3. देवताओं के ऐतिहासिक उत्पत्ति एवं विकास पर प्रकाश डालिये।

इकाई 5 अग्नि,जातवेदस्, वैश्वानर, मातरिश्वन् का स्वरूप

5.0 उद्देश्य

5.1 प्रस्तावना

5.2 अग्नि का स्वरूप

5.3 जातवेदस् का स्वरूप

5.4 वैश्वानर का स्वरूप

5.5 मातरिश्वन् का स्वरूप

5.6 सारांश

5.7 शब्दावली

5.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

5.9 सन्दर्भ-ग्रन्थ

5.10 बोध प्रश्न

5.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप :

- अग्नि देवता के स्वरूप का बोध प्राप्त कर सकेंगे।
- जातवेदस् (विद्युत) के स्वरूप का बोध प्राप्त कर सकेंगे।
- वैश्वानर के स्वरूप का बोध प्राप्त कर सकेंगे।
- मातरिश्वन् (वायु, मारुत, वात) के स्वरूप का ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे।
- आग्नि, जातवेदस् और वैश्वानर विभिन्न लोकों में स्थिति का बोध प्राप्त कर सकेंगे।
- ऋषियों की मन्त्रदृष्टि से परिचित हो सकेंगे आदि।

5.1 प्रस्तावना

यज्ञ श्रेष्ठतम कर्म है उसका प्रधान आधार अग्नि है, उस अग्नि की स्तुति ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, में की गयी है। उसी के साथ वायु देवता की भी स्तुति आदि की गयी है। उसके स्वरूप का विशेष विचार यास्ककृत निरुक्त में किया गया है। निरुक्त में व्याख्यान किये गये अग्नि, जातवेदस् और वैश्वानर के साथ ही मातरिश्वन् के स्वरूप निरूपण यहाँ इकाई में प्रस्तुत किया गया है। अग्नि पृथिवी स्थानीय, जातवेदस् अन्तरिक्ष स्थानीय और वैश्वानर द्युलोकस्थ देवता है। इनका स्वरूप मन्त्रों के प्रमाण से वर्णित है।

5.2 अग्नि का स्वरूप

निरुक्त में तीन देवता स्वीकृत हैं, पहला अग्नि जो पृथिवी स्थानीय है, दूसरा वायु अथवा विद्युदाद्वय इन्द्र और तीसरा द्युस्थानिय सूर्य है। पृथिवी लोक, प्रातःकालीन यज्ञ, वसन्त ऋतु, गायत्री छन्द, त्रिवृत् नामक स्तोम, रथन्तर नामक साम देवता है। पृथिवी स्थानिय में पठित देवगणों में अग्नायी, पृथिवी और इडा ये तीन स्त्रियाँ ये सब अग्निभक्तिक है। इस अग्निदेव का कार्य है हवियों को ले जाना, देवताओं को बुलाना और दृष्टिविषयक प्रकाश प्रदान है वह सब अग्नि का ही कर्म है। इस अग्नि के साथ स्तुति वाले देव हैं:- इन्द्र सोम, वरुण, मेघ और ऋतुएँ। (निरुक्त सप्तम अध्याय पाद तीन)

अधैतान्यग्निभक्तीनि। अयः लोकः। प्रातसवनम्। वसन्तेः। गायत्री। त्रिवृत्स्तोमः रथन्तरं साम। ये च देवगणाः समाम्नाताः प्रथमें स्थाने। अगनायी पृथिवीलेति स्त्रियः। अथस्य कर्म। वहनं च हविषामागहनं च देवतानाम्, यच्च किष्चिद् दार्ष्टिविषयकमग्निकर्मैव तत्। अधास्य संस्तविका दैवाः। इन्द्रः। सोमः। वरुणः। पर्जन्यः। ऋतवः।

(निरुक्त-07/03)

यास्ककृत निरुक्त के सप्तम अध्याय के चतुर्थ पाद में अग्नि देवता विषयक जो विमर्श किया गया है वह प्रस्तुत किया जाता है-

अग्नि देवता स्थानीय है, अग्नि नाम क्यों है, इसका उत्तर है (1) अग्रणीर्भवति (2) अग्रं यज्ञेषु प्रणीयते (3) अङ्गं नयति सन्नममानः अर्थात् वह अगुआ होता है, यज्ञों में सबसे पहले वही लाया जाता है, अथवा तृण या काष्ठ जिस किसी को आश्रय देता हुआ आत्माधीन कर लेता है अतः अग्नि कहा गया। (4) अक्नोपनो भवति इति स्थौलाष्ठीविः न क्नोपयति न स्नेहयति - अर्थात् स्थौलाष्ठीवि आचार्य का कहना है वह अक्नोपन होता है स्निगध नहीं करता है सब रसों को सुखा देता है, रूखा कर देता है अतः अग्नि नाम हुआ। त्रिभ्य आठयातेभ्यो जायते इति शाकप्रणिः। इतात् अक्ताद्दग्धाद्धाः नीतात्। क्रियाओं से बनता है। इण धातु से, अष्जू या दह से गकार, और अन्तिम नी धातु है ही। उस अग्नि की यह ऋचा है-

अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्।
होतारं रत्नधातमम्। (ऋग्वेद-1/1/1)
उस अग्नि देवता के विषय में दूसरी ऋचा है-
अग्निः पूर्वेभिऋषिभिरीऽयो नूतनैरुत।
स देवाँ सह वसति। (ऋग्वेद-1/1/2)

वह निरुक्ताध्येता यह न समझ ले कि यह लौकिक अग्नि ही इस ऋचा में कहे गये अग्नि शब्द से अभिप्रेरित है किन्तु ये ऊपर के ज्योति विद्युत और सूर्य भी अग्नि कहे जाते हैं। अतः हम मध्यमाग्नि (विद्युत) के विषय में एक ऋचा उदाहृत करते हैं-

अभि प्रवन्त समतेव योषा कल्याण्यः। स्मयमानासो अग्निम्।
धृतस्य धारा समिधो नसन्त ता जुषाणो हर्ष्यति जातवेदाः

(ऋग्वेद-4/58/8)

मन्त्रार्थ है- कल्याण युक्त मुसकराती हुई एक ही भर्त्ता में समान मन रखने वाली (सपत्नी) स्त्रियाँ जिस प्रकार अपने पति को अनुकूल होकर प्राप्त करती हैं उसी प्रकार जल की धारा में प्रदीप्त करती हुई महयमस्थानीय अग्नि विद्युत को प्राप्त होती है। उन धाराओं को सेवन करता हुआ जातवेदा (विद्युत) बार-बार चमकता है, जैसे पत्नी पति को चाहती है।

इस मन्त्र में अग्नि शछ विद्युत वाचक है और जलधाराओं से विद्युत के उत्पन्न होने का वर्णन है।

आदित्याग्नि के विषय में एह ऋचा उदाहृत करते हैं-

समुद्रार्द्धिर्मधुमाँ उदारदुपांशुना सममृत्तमानट्।
धुतस्य नाम गुह्यं पदस्ति जिह्वा देवानायमृतस्य नाभिः।

(ऋग्वेद-4/58/1)

मन्त्रार्थ है- आकाश या उदक समूह से ऊर्मि से सबको आच्छादित करने वाला उदक वाला आदित्य उदय हुआ। वह आदित्य चन्दमा से संयुक्त होकर अमरण धर्म को प्राप्त करता है। हवि या उदक का जो अविदित रहस्य उस चन्द्रमा में है। उसको रश्मियों की जिह्वा द्वारा नित्य आस्वादन करता है। वह चन्द्रमा अमृत की नाभि, बन्धन स्थान या हेतु है। अर्थात् सूर्य और चन्द्रमा में उपजीव्योपजीवक भाव है। इस मन्त्र में आदित्याग्नि अभिप्रेत है।

उपर्युक्त ऋचा में आदित्याग्नि प्रतिपादित है इसका समर्थन ब्राह्मण भी करते हैं-

"समुद्राद्ध्येषोऽद्भ्य उदेति" (कौषितकि ब्राह्मण-25/1) इति च ब्राह्मणम्। अथापि ब्राह्मणं भवति अग्निः सर्वा देवताः (ऐतरेय ब्राह्मण-2/3) इति-

क्योंकि यह आदित्याग्नि आकाश या उदक से उदित होता है। अतः यहाँ अग्नि सौर अग्नि हो ऐसा कौषीतकि ब्राह्मण का वचन प्रमाण है। और ऐतरेय ब्राह्मण भी कहता है कि अग्नि ही सब देवता है, उसी ब्राह्मण वचन के अधिक समर्थन में अगली ऋचा को प्रमाणरूप से देते हैं-

इन्द्र मित्रं वरुणमग्निमाहुरथों दिव्यः सा सुपर्णो गरुत्मान्वरुण मा एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः।।

(ऋग्वेद-1/164/46)

मन्त्रार्थ है- अग्नि को ही इन्द्र, मित्र वरुण नाम से कहा गया है। और द्युलोकवासी पतनशील स्तुतिवाला या रसों का आकर्षण करने वाला यह आदित्य भी वही है। प्रसिद्ध आदित्याग्नि है। इसी एक ही सत् अग्नि को विप्र लोग अनेक नामों से पुकारते हैं। जैसे- यम और मानरिश्व आदि।

जो अगिन सूक्तभाव व्यवहृत है और जिसे हवि दी जाती है वह तो यही पृथिवी स्थानीय अग्नि है वह न विद्युत है, न आदित्य है, ये महयम (विद्युत) उत्तर (आदित्य) ज्योतियाँ अग्नि के नाम से गौणता के ही भागी हैं।

अभ्यास प्रश्न - 1

1. अग्नि देवता है?

   क. पृथिवी स्थानीय ख. अन्तरीक्ष स्थानीय
   ग. मध्य स्थानीय घ. द्यु स्थानीय

2. यज्ञ में सबसे पहले प्रणिधान होता है?

   क. वरुण का ख. वायु का

   ग. अग्नि का घ. यम का

3. यज्ञ की हावियों को देवताओं को पहुंचता है?

   क. अग्नि ख. सूर्य

   ग. विद्युत घ. पर्जन्य

4. अग्नि के साथ स्तुति वाला देवता नहीं है?

   क. इन्द्र ख. सोम

   ग. वरुण घ. आदित्य

5. शाकपूणि ने अग्नि की उत्पत्ति कितने धातुओं से मानी है?

   क. 2 ख. 4

   ग. 6 घ. 3

6. अग्निमीळे पुरोहितं - मन्त्र का देवता है?

   क. वरुण ख. पर्जन्य

   ग. अग्नि घ. यम

7. एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति - आया है?

   क. अथर्ववेद में ख. यजुर्वेद में

   ग. ऋग्वेद में घ. सामवेद में

8. समुद्राद्ध्येषोऽद्भ्य उदेति - आया है?

   क. शतपथ ब्राह्मण में ख. ताण्ड्य ब्राह्मण में

   ग. आर्षेय में घ. कौषीतकि ब्राह्मण में

5.3 जातवेदस् का स्वरूप

निरुक्त के सप्तम अध्याय पञ्चम् पाद में जातवेदाः की व्याख्या की गयी है-

जातवेदाः कस्मा् जातानि वेद। जागृति चैवं विदुः जाते जाति विधते इति वा। जातवितो वा जातधनः। जातविधो वा जातप्रज्ञानः। यत्तज्जातः पश्रनविन्दत इति तज्जातवेदसो जातवेदस्त्वम् इति ब्राह्मणम्। तस्मात् सर्वानूतून् पशवोऽग्निमभिसर्पन्ति इति च।

अर्थात् अग्नि का नाम जातवेदा क्यों पड़ा? संसार के यावत् पदार्थ इस अग्नि को जानते हैं अतः यह जातवेदा है। प्रत्येक उत्पन्न पदार्थ में यह विद्यमान रहता है अतः जातवेदा है। स्वभाव से ज्ञानगन् है। अतः जातवेदा है। या स्वभाव से प्रकाशशील है। क्योंकि उस समय पैदा होते ही इसने पशुओं को प्राप्त किया, इसलिए वही अग्नि का जातवेदपना है। यह ब्राह्मण वचन है। उसी से इसी को अपना स्वामी जानकर सब ऋतुओं में पशु अग्नि की तरफ जाते हैं। उसके समर्थन में ऋचा उदाहृत है-

जातवेदसे सुनवाम सोमशतीयतो निदहाति वेदः।
स नः पर्षदति दुर्गाणि विश्वा नावेव सिन्धुं दुरितात्यग्निः।

(ऋग्वेद-1/99/1)

मन्त्रार्थ है- उत्पन्न हुए सब को जानने वाले अथवा जातमात्र द्वारा जाने जा रहे अग्नि के लिए हम लता रूप सोम को निचोड़ते हैं। वह अग्नि हमें सभी कठिन, दुर्गम दुःखों के पार पहुँचाए जैसे कोई चतुर मल्लाह नौका से नदी के पार पहुँचा देता है।

उसी के समर्थन में दूसरी ऋचा उदाहृत है-

प्रून्नं जातवेदस्मश्वं हिनोत वाजिनाम्।
इदं नो वर्हिरासदे।

(ऋग्वेद-10/188/1)

मन्त्रार्थ है- हे देवों! कर्मों से सबको व्याप्त करने वाले लपटों के कारण चञ्चल या वेगवान इस अग्नि को हमोर इस बर्हि से उपलक्षित कर्मों में (यज्ञ में) प्राप्त होने के लिये प्रेरणा करो। या अश्वम् यह उपमार्ध में है- घोड़े की तरह वेगवान इस अग्नि को यह कह दो कि वह हमारी इस बर्हि को प्राप्त करे।

वह यह घटक ही जातवेद शब्दयुक्त गायत्री छन्दोबद्ध तीन ऋचाओं का सूक्त दशतयी (ऋग्वेद) में है। जो तो किष्चित आग्नेय सूक्त गायत्री छन्द में हैं, वह तो जातवेदसों के स्थान में प्रयुक्त हैं। इससे पता चलता है कि जातवेदा और अग्नि पर्यायवाची ही शब्द हैं।

वह निरुक्त अध्येता यह न समझ बैठे कि जातवेदस् शब्द से यही आग ली जाती है। ये भी मध्यम और उत्तर विद्युत और सूय्र भी जातवेदा कहाते हैं। अतः महयम और यह उत्तर जातवेदा जो आदित्य है- उदुत्यं जातवेदस्मिति तद्- में जो आया है।

महयम स्थानीय अग्नि विद्युत के विषय में निरुक्त दशम अध्याय तृतीय पाद में ऋचा उदाहृत है-

प्रति त्यं चारुमध्वरं गोपीधाय प्रहूयसे।

मरुद्भिउग्न आगहि। (ऋग्वेद-1/19/1)

मन्त्रार्थ है- हे अग्नि देव! उस सुन्दर यज्ञ के प्रति सोमपान के लिए खूब जोर से बुलाये जाते हो। इसलिये मरुतों के साथ आ जाओ।

मध्यम स्थानीय अग्नि विद्युत के सिवाय किस दूसरे देवता को ऐसा वर्णन कर सकते थे। उसी अग्नि के सम्बन्ध में यह दूसरी ऋचा उदाहृत है-

अभित्वा पूर्वदीतये सृजयामि सोम्यं मधु। मरुद्भिउग्न आगहि।।(ऋग्वेद-1/19/9)

इस मन्त्र का अर्थ है- हे अग्नि! सोम इसका मधु पहले से ही अनादि काल से पान के लिए प्रवृत्त हुए तेरे लिये निमन्त्रण दे रहा हूँ, वह तू मरुतों के साथ आओ।

5.4 वैश्वानर का स्वरूप

निरुक्त के सप्तम अध्याय के षष्ठ पाद में वैश्वानर पद का व्याख्यान करते हुए कहा गया है-

वैश्वानरः कस्मात्र विश्वान्नरान्यति। विश्व एनं नरानयन्नीति वा। अपि व विश्वानर एव स्यात्। प्रत्युतः सर्वाणि भूत्यानि तस्य वैश्वानरः। वैश्वानर नाम क्यों पड़ा? सम्पूर्ण मनुष्यों को इस लोक से

परलोक पहुँचाता है। इसको सब मनुष्य प्राप्त करते हैं। अथवा जो सबको प्राप्त हो अर्थात् सब प्राणियों को पहुँचा हुआ हो सब में विद्यमान हो, वह विश्वानर कहाता है। उसका अपत्य वैश्वानर कहाता है। अर्थात् विश्वानर का तद्धित 'अण्' प्रत्यय करने पर वैश्वानर हो गया।

उस वैश्वानर के विषय में यह ऋचा आती है-

वैश्वानरस्य सुमतौ स्याम राजा हि कं भुवनानामभि श्रीः।
इतो जातो विश्वमिदं वि चष्टे वैश्वानरो पतते सूर्येण।।

(ऋग्वेद-1/98/1)

मन्त्रार्थ है- हम वैश्वानर की कल्याण बुद्धि में हो जो सब भूतों का आश्रयणीय राजा है। जो कि इस पृथिवी लोक से औषधों से उत्पन्न हुआ। इस सब संसार को या इस सब प्राणि वर्ग को देखता है या प्रकाश होने से दिखाता है और जो वैश्वानर सूर्य के साथ संगत होता है।

तब वैश्वानर क्या वस्तु है- यास्क के गुरुजी यहाँ वैश्वानर मध्यमग्नि विद्युत के लिए है ऐसा कहते हैं, क्योंकि इस वैश्वानर की वेद में वर्षकर्मणा (वृष्टि) से स्तुति की गयी है-

प्र नू महित्वं वृषभस्य यं वोचं पूरतो बृत्रहणं सचन्ते।
वैश्वानरो दस्युमग्नि र्जध्न्वां अधूनोत्काष्ठा अब शम्बरं भेत्

(ऋग्वेद-1/59/6)

मन्त्रार्थ है- शीघ्र ही वर्षा करने वाले विद्युत की महिमा को बतलाता हूँ जिस मेघहन्ता की वर्षा से भरने योग्य अर्थात् वर्षा के इच्छुक मनुष्य स्तुति करते हैं, यह वैश्वानर नाम का विद्युत अग्नि (दस्यु) रसों को सुखाने वाले अकर्षण को नष्ट करता है और इसी विद्युत अग्नि ने सब मेघस्थ जलों को क्यों दिया है मेघ को फाड़ डाला है।

पहले के यान्त्रिकों का कथन है कि यह आदित्य ही वैश्वानर है, इन लोकों के आरोहण से सवनों- प्रातः सवन, माध्यन्दिन सवन, सायं सवन का आरोहण पढ़ा गया है अर्थात् यज्ञकर्त्ता इन सवनों से क्रमश' पृथिवीलोक, अन्तरिक्षलोक, और द्युलोक को प्राप्त करता है। पुनः आरोहण से अवरोहण अभिप्रेत है। अर्थात् तीनों सवनों से ध्यान द्वारा द्युलोक पर आरुढ़, यज्ञकर्त्ता का द्युलोक से नीचे उतरना अभिप्रेत है। इस उतार के अनुकरण को होता अग्नि मारुत स्तोत्र का आदर नहीं करता क्योंकि वह आग्नेय है। और उसके बाद होता मध्यमस्थानीय देवतओं की ओर आता है। जिनका नाम रूद्र और मरुत है। और इसके बाद पृथिवी स्थानीय अग्नि की ओर आता है। आग्नेय स्तोत्र को गाता है, इस प्रत्यवरोह क्रम से स्पष्ट है कि वैश्वानर आदित्यवाची है।

यह भी कारण है- वैश्वानर के आदित्यवाची होने में कि वैश्वानरीय पुरोडाश 12 कपालों वाला है- वैश्वानर के लिए हवि 12 कपालों में पकाई जाती है। क्योंकि इस सूर्य का भी बारह प्रकार का कार्य है। अतः स्पष्ट है कि वैश्वानर आदित्यवाचक है।

इसमें ब्राह्मण भी प्रमाण है- असौ वा आदित्योऽग्निर्वैश्वानर इति यह आदित्य ही वैश्वानर अग्नि है। और भी प्रमाण है निवित् स्तोत्र सूर्य को वैश्वानर प्रकट करने वाला है जैसे- आ यो द्यां भात्या पृथिवीम् इति। जो वैश्वानर द्युलोक को और पृथिवी को प्रकाशित करता है। अतः द्युलोक और पृथिवी लोक का प्रकाशक सूर्य ही है, अतः इस प्रमाण से भी स्पष्ट है कि वैश्वानर आदित्य है।

और हविष्यान्तीय सूक्त भी वैश्वानर के सूर्यत्व का ही द्योतक है। वहाँ मन्त्र आता है- विश्वस्मा अग्निं भुवनाय देवा वैश्वानरं केतुमहनामकृण्वन्- देवताओं ने सारे संसार क लिए अग्नि को ही दिनों का बनाने वाला किया है। स्पष्ट है कि वैश्वानर आदित्य का पर्यायवाची है।

अयमेवाग्निवैश्वानर इति शाकपूणिः यह अग्नि ही वैश्वानर है यह मन्त्र मत शाकपूणिका है। सो कहते हैं- ये मध्यम और उत्तर ज्योति विद्युत और सूर्य विश्वानर कहाते हैं। यह आग वैश्वानर है। क्योंकि यह अग्नि उन दोनों से उत्पन्न होती है। विश्वानर का अपत्य वैश्वानर कहलाता है।

यह अग्नि इस विद्युत और सूर्य से उत्पन्न होती है? इसका उत्तर है- जब यह वैद्युत अग्नि आश्रम लकड़ी जल या जिस किसी को प्राप्त होती है तब जब तक मनुष्यों से या उन पार्थिव वस्तुओं से अगृहीत रहती है उस समय तक मध्यम धर्म वाली विद्युत स्वभाव वाली ही रहती है। विद्युत उदक इन्धन वाली है। शरीर अर्थात् पार्थिव धातु से शान्त हो जाने वाली है और जैसे ही इसे मनुष्यों ने छुआ या किसी पार्थिव वस्तु से गृहीत हुई कि तुरन्त ही यह आगरूप में परिणत हो जाती है और इस पार्थिव अग्नि का स्वरूप वैद्युताग्नि यह पानी से शान्त हो जाती है और पार्थिव वस्तु से लता उठती है। इसलिए विद्युत से आग उत्पन्न हो जाती है और इसलिये विश्वानर की विद्युत की यह वैश्वानर अपत्य है।

और आदित्य से यह वैश्वानर कैसे उत्पन्न होता है सो बताते हैं- उत्तरी दिशा में आदित्य के पहली बार आते ही कंस को या सूर्यकान्तमणि को साफ करके गर्मी से बाहर जहाँ से शुष्क गोबर जल उठता है, वह आदित्य-ताप यह आग हीं बन जाती है। सो इससे स्पष्ट है कि सूर्य से भी आग उत्पन्न हो जाती है। अतः यह बात सिद्ध है। यह वैश्वानर अग्नि आदित्य की सन्तान है।

और भी प्रमाण हैं- 'वैश्वानरो यतते सूर्येण'। (ऋग्वेद-1/98/1) यह वैश्वानर अग्नि सूर्य के साथ संयत होती है। कहीं पर भी अपने आप अपने से मिलता है यह व्यवहार नहीं है। किसी भिन्न धातु से अपनी आत्मा मिलती है। कोई मनुष्य यहाँ पार्थिव वस्तुओं से लकड़ी आदि मथकर इस पार्थिव अग्नि को प्राप्त करता है और वहाँ ऊपर से इसी सूर्य की रश्मियाँ निकलती हैं। इधर से अग्नि की ज्वाला ऊपर की ओर पहुँचती है और उधर सूर्य की किरणें नीचे की ओर आती हैं उन दोनों दीप्तियों के संसर्ग को देखकर इसप्रकार मन्त्रद्रष्टा ने कह दिया कि वैश्वानरो यतते सूर्येणां।

यदि वैश्वानद आदित्यवाचक होता तो जो औत्तमिक सूक्त है, भग के, सविता के, सूर्य के, पूषा के, विष्णु के और विश्वदेव के हैं। उनमें भग के वैश्वानर सम्बन्धी प्रवाद होते और आदित्य के कर्म से वैश्वानर की स्तुति होती- जैसे कि तू उदय हो रहा है। तू अस्त हो रहा है। तू लौटकर वापस आता है इत्यादि।

उपर्युक्त पूर्वपक्ष उत्तर देते हुए आचार्य यास्क ने कहा है- आग्नेय सूक्तों में ही वैश्वानर सम्बन्धी विशेषण दिये गये हैं और इस वैश्वानर की अग्नि के कार्य से स्तुति की गयी है। जैसे कि हे वैश्वानर! तू के जाता है। तू पकाता है और तू जलता है। अतः वैश्वानर अग्निवाचक ही है न कि सूर्य या विद्युतवाची।

निरुक्त के सप्तम अध्याय सप्तम पाद में वैश्वानर विषयक व्याख्यान हुआ है सो प्रस्तुत है-

जो यह कहा गया है कि वर्षा के कर्म से इस वैश्वानर की स्तुति की गयी है वह ठीक नहीं है। क्योंकि इस पार्थिव अग्नि में भी यह सब उत्पन्न होता है जैसा कि निम्न मन्त्र में वर्णन किया गया है।

समानमेतदुदकमुच्चैत्यव चाहभिः भूमिं पर्जन्या जिन्वत्यरनमः (ऋग्वेद-1/164/51)

अर्थात् यह एक ही जल है जो कि किन्ही दिनों में ऊपर को जाता है और नीचे को आता है। बादल पृथिवी को तृप्त करते है और अग्नियाँ द्युलोक को तृप्त करती हैं सोचती हैं।

कृष्णं नियानं हरयः सुपर्णा अपो वसाना दिव्यमुत्यतन्ति।

त आ वगृत्रत्सदनादृतस्यादिद् धृतेन पृथिवी व्युद्यते।।

(ऋग्वेद-1/164/14)

इस मन्त्र में यद्यपि स्पष्टरूप से तो आदित्य का नाम है, परन्तु प्रकरण से अग्नि ही है। अतः दोनों अवस्थाओं में वृष्टि का कर्ता मध्यमग्नि विद्युत यहाँ नहीं लिया गया है।

और ब्राह्मण वचन भी इस प्रकार है- **अग्निर्वा इतो वृष्ट्रि समीरयति धामच्छद्दिति ढालु वै भूत्वा तर्षति मरुतः सृष्टां वृष्टिं तयन्ति।**

यज्ञ की अग्नि यहाँ से पृथिवी लोक से वृष्टि को प्रेरित करती है। अन्तरिक्ष में आदित्य मेघ रूप रश्मियों से प्रकाश का आच्दादक होकर बरसता है। इस प्रकार उस आदित्य से की गयी वृष्टि को मरुत हवाएँ मध्यम स्थान से मेघां को फाड़कर पृथिवी तक ले जाती है।

एक और भी ब्राह्मण वचन है- **यदा ढालु वै असावादित्योऽग्निं रश्मिभिः पर्यावर्तन्ते अथ वर्षति। इत**

जब यह सूर्य अपनी किरणों से अग्नि की ओर अर्थात् नीचे की ओर जाता है तब बरस पड़ता है। सो इस प्रकार यह वर्षाकर्म तो अग्नि सूर्य और विद्युत् इन सबका बराबर ही है, इस वर्षाकर्म को लेकर मध्यमग्नि को वैश्वानर सिद्ध करना युक्तिसंगत नहीं है।

यथो एतोद्रोहात् प्रत्यवरोहश्चिकीर्षति इत्याऽनामवचनादेतद् भवति।

और जो यह कहा गया था कि आरोहण के क्रम से ही प्रत्यवरोहण भी करना चाहिए और इसलिए आदित्य वैश्वानर सञ्ज्ञक है, सो भी ठीक नहीं। यह तो आम्नाय के कथन के अनुसार होता है, वैश्वानर से किसी ध्रुवस्थानीय का कोई सम्बन्ध अभिप्रेत नहीं।

यथो एतद्वैश्वानरीयो द्वादशकपालो भवतीत्यर्निवः चनं कपालानि भवन्ति। अस्ति हि सौर्य एककपालः, पञ्चकपाकशच।

और जो कहा गया था कि वैश्वानरीय पुरोडाश बारह कपालों वाला होता है और उधर सूर्य के भी 12 कर्म हैं अतः वैश्वानर असन्दिग्ध रूप से आदित्यवाची है, सो कथन ठीक नहीं। क्योंकि कपाल तो व्याभिचारित होता है। क्योंकि सूर्य एककपाल वाला भी होता है और पञ्चकपाल वाला भी होता है।

यथो एतद ब्राह्मणं भवतीति बहुभक्तिवादीनि हि ब्राह्मणानि भवन्ति, पृथिवी वैश्वानरः। संवत्सरो वैश्वानरः ब्राह्मणो वैश्वानरः। इति।

और जो आदित्य को वैश्वानर अग्नि कहा गया था, 'असौ वा आदित्योग्निर्वैश्वानरः इति' सो ठीक नहीं। क्योंकि ब्राह्मण तो बहुभक्तिवादी हुआ करते हैं- यहाँ भक्ति का अर्थ गुण-कल्पना है। ब्राह्मण जिस किसी गुण से किसी को भी कह डालते हैं, सो इसी तरह वैश्वानर विशेषण भी ब्राह्मणों ने स्त्रियों के साथ जोड़ दिया जैसे पृथ्वी वैश्वानर है, समवत्सर वैश्वानर है, ब्राह्मण वैश्वानर है, इत्यादि।

यथो एतन्निवित् सौर्यावेश्वानरी भग्तीत्यस्यैः सा भवति। यो विद्भ्यो भानुषभ्यो दीदेत्। इत्येष विऽभ्योमानुषीभ्यो दीप्यते।

और जो कहा गया था कि निवित् स्तोत्र सूर्य के वैश्वानर का द्योतक है- सो भी ठीक नहीं है कारण कि वह स्तोत्र तो इसी पार्थिव अग्नि के साथ सम्बन्ध रखता है- इसी आग को वैश्वानर बतलाता है न कि आदित्य को क्योंकि उसी सूक्त में यह मन्त्र आता है। जो यह आग मानुषी प्रजाओं से प्रदीप्त की जाती है। सो इस सूक्त में तो स्पष्टतया ही पार्थिवाग्नि के लिये कहा गया है।

यथ्ज्ञो एतच्छान्दोमिकं सूक्तं सौर्यवेश्वानरं भवतीत्य स्यैव तद्भवति। जमदग्निभिरहुतः। इति

और जो यह कहा गया था कि छान्दोभिक सूक्त सूर्य के वैश्वानर होने का समर्थक है, सो ठीक नहीं है। कारण कि वह सूक्त तो इसी पार्थिव अग्नि को कहता है। जैसा कि उसी सूक्त में 'जमदग्निभिः' आदि वचन आया है, जिसका अर्थ है जमदग्निभिः याज्ञिकों से हवन किया गया यह वैश्वानर अग्नि याज्ञिक लोग इस पार्थिव अग्नि में ही आहुति डालते हैं न कि आदित्य में। इससे स्पष्ट है कि वैश्वानर आदित्यवाचक नहीं है।

यथो एतद्रविष्पान्तीयं सूक्तं सौर्यवैश्वानरं भतीत्यस्यैव तद्भवति। और जो कहा गया था कि हविष्पान्तीय सूक्त सूर्य को वैश्वानर सताता है सो भी ठीक नहीं, कारण कि वह सूक्त इस पार्थिवाग्नि से ही सम्बन्ध रखता है, जैसा कि निम्न मन्त्र से पता चलता है-

हविष्यान्तमजरं स्वर्विदि दिविस्पृश्याहुतं जुष्टमग्नौ।
तस्म भर्मणे भुवनाय देवा धर्मणो कं स्वध्यापप्रधन्त।।

(ऋग्वेद-10/188/1)

मन्त्रार्थ है- पान करने योग्य जरारहित देवों से सेवित जो हवि है उसको आदित्य को जानने वाले द्युलोक में ऊपर जाने वाले अग्नि में आहुति डाले हुए को देवता लोगों ने उसके भरण-पोषण के लिए उसको विभूतियुक्त कारने के लिए उसको धारण करने के लिये आज्य से बढ़ाया है।

इस प्रकार इस सूक्त के प्रथम मन्त्र में यह अग्नि लिङ्ग वैश्वानर शब्द से सम्बद्ध होता हुआ सुतरां उसके अग्नि सम्बन्धित्व को बोधन कराता है, न कि आदित्य के।

इस प्रकार यास्क दोनों पक्षों का खण्डन करके अब स्पष्ट रूप से वैश्वानर को अग्नि बोधक सिद्ध करने के लिए यह निम्नलिखित मन्त्र देते हैं-

अपामुपस्थे महिषा अमृभ्णत् विशो राजानमुपतस्यु ऋग्नियम्।
आ इतो अग्निमभरद्विवस्तो वैश्वानरं मातरिश्वः परावतः।।

अब इसी पार्थिव अग्नि को निम्नलिखित दो ऋचाओं से पृथिवी, अन्तरिक्ष आदि सब स्थानों में पहुँचाकर ऋषि स्तुति करता है-

मूर्धा भुवो भवति नक्तमग्निस्ततः सूर्यो जायते पातरुधन्।
माया मू तु याज्ञेयानामेनामपो यत्रर्णिश्चरति प्रजानन।।

ऋग्वेद-10/88/6

मन्त्रार्थ है- रात के समय यह आग ही भूलोक का शिर होता है। उसके बाद प्रातःकाल उदय होता हुआ सूर्य हो जाती है। यह उस अग्नि देव की माया है जिसको याज्ञिक लोग जानते हैं। जिस कर्म को जानता हुआ अग्नि देव शीघ्रता करता हुआ प्रत्येक स्थान पर पहुँच जाता है। उसी के प्रमाण में यह ऋचा उदाहृत है-

स्तोमेन हि दिवि देवासो अग्निमजीजनञ्छक्तिभी रोक्षसि प्राम्।
तम् अकृण्वंस्त्रेधा भुवे कं स ओषधीः पचति विश्वरूपाः।।

ऋग्वेद-10/88/10

मन्त्रार्थ है- देवताओं ने स्तोम से कर्मों से यज्ञादिको से द्युलोक में आदित्यात्मना अन्तरिक्ष औ पृथिवी लोक परिपूर्ण इस अग्नि को पैदा किया। उसी पार्थिव अगिन को त्रेधाभाव के लिए कर दिया वही अग्नि सब प्रकार की औषधों को पकाता है।

पदस्य दिवि तृतीयं तदसावादित्यः इति ब्राह्मणम् इस अग्नि का ही जो तीसरा भाग द्युलोक में है वही तो सूर्य है। ऐसा ब्राह्मणकार का कथन है।

उसी एक ज्योतिको अग्निरूप देकर ऋषि स्तुति करता है, और इसी पार्थिव अग्नि को सूर्य का रूप देकर इस ऋचा से स्तुति करता है-

यदेदेनमदधुर्यज्ञियासो दिवि देवाः सूर्यमादितेयम्।
यदा चरिष्णू मिथुनात भूतातादित्यप्रपश्यन्भुवनाने विश्वा।।

ऋग्वेद-10/88/11

मन्त्रार्थ है- जब इस अदिति के पुत्र सूर्य को याज्ञिक देवताओं ने द्युलोक में रख दिया और जब सर्वदा साथ रहने वाले दो उषा और आदित्य प्रकट हुए, उस समय समस्त भूतों ने इन्हें देखा। फिर इसी को अग्नि का रूप देकर निम्न ऋचा से स्तुति करता है-

यत्रावदेते अवरः परश्च यज्ञन्योः कतरो नौ वि वेद।
आ शेकुरित्सधमादं समायो नक्षन्त यज्ञं क इदं विवोचत्।।

ऋग्वेद-10/88/7

मन्त्रार्थ है- जिस कर्म में यह पृथिवी-स्थानीय अग्नि और मध्यम अग्नि विवाद करती है कि यज्ञ नेता हम दोनों में कौन सी यज्ञ के विषय में अधिक जानती है। वहाँ ऋत्विक लोग जो यज्ञ में उपस्थित थे इन दोनों के स्पर्धा को दूर करने में नहीं समर्थ हुए। वे कहने लगे कि कौन इस बात को कह सकेगा?

उसी विषय के समर्थन में यह ऋचा दी जाती है-

यावन्मात्रमुषसो न प्रतीकं सुपर्ण्यो उ वसते मातरिश्वः।

तावद्दधात्मुपश्ङ्गमायन्ब्राह्मणो होतुश्वरो निषीदन्।।

ऋग्वेद-10/88/19

मन्त्रार्थ है- हे वायो! जब तक उषाकाल का दर्शन होता है इस समय अच्छे प्रकार से गिरने वाली रात्रि अन्धकार से आच्छादित किये हुए है सारे जगत को तब तक ब्राह्मण होता के यज्ञ में आकर पश्चिम भाग में पूर्वाभिमुख होकर बैठा हुआ इस वैश्वानर अग्नि का आधान करता है।

होता का जप तो अग्निभिन्न वैश्वानर का है। वह जप है- देव सवितरेतं त्वा वृणतेऽग्निं होत्राय सह पित्रा वैश्वानरेण। इसका अर्थ है, हे सकल जगदुत्पादक देव! इस तुझ अग्नि को वैश्वानर पिता के यज्ञकर्म के लिए करते हैं। इस प्रकार इसमें तो वैश्वानर को अग्नि का पिता माना है और तुम अभी तक कहते आये हो कि अग्नि का पिता अग्नि विश्वानर-मध्यमग्नि और आदित्य की सन्तान है अर्थात् विद्युत और सूर्य से अग्नि पैदा होती है, परन्तु इस होतृजप में उल्टी ही गङ्गा बहा दी। यहाँ तो पुत्र को पिता सिद्ध कर दिया। सो इसका समाधान है? उत्तर देते हैं- अरे भाई! इसी पार्थिव अग्नि को यहाँ होतृजप में भी सब अग्निहोत्र तथा उत्तराग्नि-सूर्य को पिता कहा गया है। क्योंकि जपवचन में 'पित्रा' यह भेद व्यपदेश स्पष्ट कर रहा है, यह तो हुआ यास्क आचार्य का समाधान। अब शाकपूणि मत से समाधान देते हैं- यस्तु सूक्तं भजते यस्मै हविनिरुप्यतेऽयमेव सोऽग्निवैश्वानरः। निपातमेवैते उत्तरे ज्योतिषी एतेन नामधेयेन भजेते भजेते। जो वो वैश्वानर सूक्त जिसके नाम से है और जिसको हवि दी जाती है वह वैश्वानर यही पार्थिव अग्नि है, ये दोनों मध्यम और उत्त्रज्योति अर्थात् विद्युत और सूर्य तो इस वैश्वानर नाम से गौणता के ही भागी हैं। अर्थात् इन दोनों विद्युत और सूर्य के लिये वैश्वानर शब्द का प्रयोग गौण है।

अभ्यास प्रश्न - 2

1. जातवेदस् देवता है ?
   - क. अन्तरीक्ष स्थानीय
   - ख. द्यु स्थानीय
   - ग. पृथिवी स्थानीय
   - घ. इनमें से कोई नहीं
2. "जाते-जाते विद्यते' व्युत्पत्ति है ?
   - क. पर्जन्य की
   - ख. रूद्र की
   - ग. जातवेदस् की
   - घ. मरुत की
3. 'विश्वान नरान नयती इति' व्युत्पत्ति है ?
   - क. अग्नि की
   - ख. सूर्य की
   - ग. नक्षत्र की
   - घ. वैश्वनार की
4. 'वैश्वनार सुमतौ स्याम' में स्तुत देवता है ?
   - क. पर्जन्य
   - ख. वैश्वनार
   - ग. वरुण
   - घ. यम
5. पहले के याज्ञिकों ने आदित्य को क्या कहा है ?
   - क. उषा
   - ख. पूषा
   - ग. वैश्वनार
   - घ. रूद्र

6. 'असौ वा आदित्योऽग्निवैश्वानर इति' यह प्रमाण है ?

   क. ब्राह्मण का ख. वेद का

   ग. आरण्यक का घ. उपनिषद् का

7. निवित् स्तोत्र, छान्दोभिक सूक्त व हविष्यान्तीय सूक्तों में वैश्वानर वाचक है ?

   क. सूर्य का ख. चन्द्रमा का

   ग. ऋतु का घ. इनमें से कोई नहीं

8. 'अयमेवाग्निवैश्वानरः इति' वचन है ?

   क. स्थौलाण्ठीति का ख. गार्ग्य का

   ग. यास्क का घ. शाकपूणि का

9. 'वैश्वानरो पतते सूर्येण' - मन्त्र आया है ?

   क. ऋग्वेद में ख. यजुर्वेद में

   ग. अथर्ववेद में घ. सामवेद में

10. वैश्वानर का व्याख्यान निरुक्त सम्तम अध्याय में हुआ है ?

   क. षष्ठ पाद में ख. सप्तम पाद में

   ग. उपर्युक्त दोनों पादों में घ. इनमें से कोई नहीं

5.5 मातरिश्वा का स्वरूप निरूपण

निरुक्त में सप्तम अध्याय के सप्तम पाद में यास्क ने मातरिश्वन् की निरुक्ति करते हुए कहा है- **मातरिश्वा वायुः मातरि अन्तरिक्षे प्रवक्षिति । मातर्याश्वनतीति इति** अर्थात् वायु को मातरिश्वन् कहते हैं। यह अन्तरिक्ष में चलती है अथवा अन्तरिक्ष में शीघ्र ही चलती है। मातरिश्वा से सम्बन्धित मन्त्र उदाहृत है-

यावन्मात्रमुषसो न प्रतीकं सुपर्ण्यो उ वसते मातरिश्वः।
तावद्दथात्युपयज्ञमायन् ब्राह्मणो होतुरवरो निषीदन्।

(ऋग्वेद-10/88/19)

मन्त्र का अर्थ है- हे वायो! जब तक उषः काल का दर्शन होता है इस समय अर्थात् जबकि अभी उषा के दर्शन नहीं हुए तब अच्छे प्रकार से गिरने वाली रात्रि अन्धकार से ढके हुए है, सारे संसार को तब तक यज्ञकर्ता ब्राह्मण होता के यज्ञ में आकर पश्चिम भाग में बैठा हुआ इस वैश्वानर अग्निका आधान करता है।

और भी ऋचा उदाहृत है- **एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः।**

(ऋग्वेद-1/164/46)

मन्त्रार्थ है- एक सत् को मेधावी लोग अनेक नामों से पुकारते हैं- यम, अग्नि, मातरिश्वन् आदि।

और भी मन्त्र उदाहृत हैं-

अपामुपस्थे महिषा अगृभ्णत विशो राजानमुपतेस्थुऋग्मियम्।

आ दूतो अग्निमभरद्विवस्वतो वैश्वानरं मातरिश्वा परावतः।।

(निरुक्त पृ. - 374)

मन्त्र का अर्थ है- जलों के स्थान में अर्थात् अन्तरिक्ष में रहने वाले माध्यमिक देवगण या वायुएँ इस वैश्वानर अग्नि को ग्रहण करता है। जिस प्रकार प्रजाएँ राजा को छोड़कर खड़ी रहती है उसी प्रकार वायुएँ पूजनीय इस अग्नि को घेर कर खड़ी हो जाती हैं। देवताओं का दूत वह मातरिश्वन् (वायु) दूरवर्ती विवस्वान (सूर्य) से वैश्वानर अग्नि को लाता है। वायुत इन्द्र से सम्बन्धित है- अन्तरिक्ष लोक, माध्यन्दिन सवन, ग्रीष्मऋतु, त्रिष्टुप छन्द, प´्चदश स्तोम बृहत्साम और जो देवगण मध्यम स्थान में पठित हैं और जो स्त्रियाँ पठित हैं। इस इन्द्र का कर्म वृष्टि करना, वृत्रवध और जो कोई भी बल का कार्य है वह सब इन्द्र का कर्म है। और इस इन्द्र के साथ स्तुत किये देवता हैं- अग्नि, सोम, वरुण, पूषा, बृहस्पति, ब्रह्मणस्पति, पर्यत, कुत्स, विष्णु, वायु और भी मित्र, वरुण के साथ स्तुत होता है। (निरुक्त-7/5)

यतो हि इन्द्र संस्तविक देव वायु (मातरिश्वन्) है।

अतः वायु पर विमर्श प्रस्तुत किया जाता है- वायु अन्तरिक्ष स्थानीय देवता है- वायुर्वेन्द्रो वान्तरि सस्थानः (निरुक्त-7/5) अयं वायुरन्तरिक्षपृष्ठम् (जैमिनीय ब्राह्मणम्-3/252)। वायु प्रवाह तिर्यग्गति युक्त होता है अयं वायुरहिमन्नतरिक्षे तिर्यङ् पवते (जैमिनीय ब्राह्मण-3/310)। वायु ही सभी प्राणियों की पूर्णता है- एष हि सर्वेषां भूतानामशिष्टः (शतपथ ब्राह्मणम-8/4/1/9)। प्रजापति के प्राण से वायु उत्पन्न हुआ- प्राणाद्वायुरजायत् (ऋग्वेद-10/90/13)। दीर्घायुष्य प्रदान करना इनकी विशेषता है। अमृतत्त्व की अक्षय शक्ति वायु में विद्यमान है- यददो वात ते गृहेउऽमृतस्य निधिर्हितः। ततो नो देहि जीवसे। (ऋग्वेद-10/186/3)। वायु को देवताओं में ओजिष्ठ कहा गया है- वायुर्वै देवानामाजिष्ठः क्षेपिष्ठः (मैत्रायणी संहिता-2/5/1)। वायुदेव देवों में शीघ्रगामी है- वायुर्वै देवानामाशुः सारसरितमः (तैत्तिरीय संहिता- 3/8/7/1)। वायु समस्त देवताओं की आत्मा है- सर्वेषामु हैष देवानामात्मा यद्वायुः (शतपथ ब्राह्मण-9/1/3/8)।

(यजुर्वेद संहिता परिशिष्ट-2/8) सामवेद संहिता परिशिष्ट 2/6 में वायु को जो सन्दर्भ मिलता है- वह है- "वैदिक देवताओं को तीन श्रेणियों में विभक्त किया गया है। (1) पर्थिव, (2) वायवीय और (3) आकाशीय। वायु का पर्याय वात भी है। ये दोनों भौतिक तत्त्व एवं दैवी व्यक्तित्व के द्योतक हैं। वायु से देवता और आँधी का बोध होता है। वात के तीन प्रकार के स्वरूप (1) धूल पत्ते उड़ाता हुआ, (2) वर्षाकार, (3) वर्षा के साथ चलने वाला झांझावात जबकि वायु का स्वरूप बड़ा कोमल है। प्रातः कालीन समीर (वायु) उषा के ऊपर सांस लेकर उसे जगाता है जैसे प्रेमी अपनी प्रेयसी को जगाता है। इन्द्र और वायु युगल देव का रूप धारण करते हैं। ऋषि जानते थे कि वायु ही जीवन का साधन है। स्वास्थ्य के लिए परमावश्यक है, जीवनी शक्ति को बढ़ाता है।"

वायु को सम्बोधित साम उदाहृत है-

नियुत्वान्वायवा गह्ययं शुक्रो अयामिते। गन्तासि सुनवतो गृहम्।

(सामवेद पूर्वार्चिक-6/2/6)।

मन्त्रार्थ है- याज्ञिकों के पास नियुत (रथ) में सवार होकर पहुँचने वाले वायुदेव। आपके निमित्त यह देदीप्यमान सोमरस तैयार किया गया है, इस हेतु हम आपका आवाहन करते हैं।

बात के साथ पर्जन्य का संस्तवन मिलता है- वातेन च पर्जन्यः (निरुक्त-7/3) चन्द्रमा वायु और वर्षा के साथ आदित्य का समान स्तवन है या साहचर्य है-

चन्द्रमा सा वायुना संवत्सरेणेति संस्तवः

(निरुक्त-7/3)।

अब निरुक्त दशम अध्याय के प्रथम पाद में वायु का जो विमर्श हुआ है, वह है-

"अथातो मध्यस्थाना देवताः (1) वासां वायुः प्रथमःगामो भवति (2)।

वायुः (1) इसके आनन्तर यहाँ से अन्तरिक्ष स्थान में रहने वाले वायु देवता की व्यख्या की जायेगी। उन देवताओं में वायु पहले आने वाली है।

वायुर्वातेर्वेतेर्वा स्याद्गतिकर्मणः एतेरिति स्थौलाष्ठीतिः अनर्थको वकारः। वायु शब्द गतिकर्मक वा गतिगन्धनयो से या गत्यार्थक ती धातु से बनता है। स्थौलाष्ठीति आचार्य कहते हैं कि इण् गतौ से आयु बनता है और आयु ही वायु है। वायु में वकार, निरर्थक है। अर्थात् आयु में व् आगम है। यास्क ने वायु के स्थान पर आयु का प्रयोग किया है। वायु गतिशील है।

उस वायु देवता के सम्बन्ध में यह ऋचा है-

वायवायाहि दर्शते में सोमा अरंकृताः। तेषां पाहि श्रुधी हवम्।

(ऋग्वेद-1/2/1)।

मन्त्र का अर्थ है- हे दर्शनयोग्य वायु! ये सोम हमने अलंकृत करके रखे हुए हैं। आओ और उन सोमरसों का पानकर हमारी पुकार को सन लो।

मध्य-स्थानीय वायु के अतिरिक्ता किसी दूसरे देव को इस प्रकार कहते इसके प्रमाण में दूसरी ऋचा भी है-

आसस्राणासः शवसान मच्छेन्द्रं सुचके रथ्यासो अश्वाः।
अभिश्रव ऋज्यन्तो वहेयुर्नू चिन्नु वायोरमृतं विदस्येत्।।

(ऋग्वेद-6/37/3)

मन्त्रार्थ है- उत्तम रथ में जुड़ने के लिये रथ में जुड़ने वाले बलशाली इन्द्र की ओर नित्य ही आने वाले घोड़े सरलता से सीधे चलने वाले होकर शीघ्र ही इन्द्र के अमृतरूप नये और पुराने सोम नामक अन्न की ओर इन्द्र को ले जायें और यह सोमाढ्य श्रव उपक्षीण न होने पाये।

इस ऋचा को कुछ आचार्य इन्द्र प्रधान मानते हैं किन्तु दूसरे इस ऋचा को इन्द्र और वायु देवता प्रधान मानते हैं। वायु की प्रथमगमिता एवं वर्षाकर्म में विशिष्ट अधिकारिता के सम्बन्ध में ईशावास्योपनिषद् से एक मन्त्र उदाहृत है-

अनेजदकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आजुवन् पूर्वमर्षत्।

तद्धावतोऽत्यानत्येति तिष्ठतस्मिन्नयो मातरिश्वा दधाति। (04)

मन्त्रार्थ है- वह आतमतत्त्व अपने स्वरूप से विचलित न होने वाला, एक तथा मन से भी तीव्र गति वाला है। इसे इन्द्रियाँ प्राप्त नहीं कर सकीं, क्योंकि यह उन सबसे पहले गया हुआ विद्यमान

है। वह स्थिर होने पर भी अन्य सब गतिशीलों का अतिक्रमण कर जाता है। उसके रहते ही मातरिश्वा (वायु) समस्त प्राणियों के प्रवृत्ति रूप कर्मों का विभाग करता है।

निरुक्त 10 अध्याय तृतीय पाद में जो बात का सन्दर्भ मिलता है सो प्रस्तुत है-

वातो वतीति सतः,

तस्यैषा भवतिवात आवातु भोषजं शम्भुं मयोमु नो हदे।

प्रण वायूंषि तारिषत्।।

(ऋग्वेद-10/186/1)

वातः का अर्थ वायु है क्योंकि वह गति करती रहती है। उस वायु के सम्बन्ध में मन्त्र है- यह वायु हमारी ओर जो जो कुछ हमारे लिये भोषज है वह वह लेकर बहे। हमारे हृदय के लिये शान्ति सुख देने वाला हो। हमारी आयु को बढ़ाये।

मातरिश्वन्, वायु, वात, एकवचन में वर्णित देवता है वहाँ वायु जिसका पहले वर्णन किया जा चुका हे- उसी के भेद बहुवचन में मारुतः शब्द से निरुक्त एकादश अध्याय द्वितीय पाद में वर्णित हुआ है- सो प्रस्तुत है- **अथातो मध्यमस्थाना देवगणाः। तेषां मरुतः प्रथमागामिनो भवन्ति। मारुतो मितराविणो वा, भितरोचनो वा, महद् द्रवन्तिति वा तेषामेषा भवति आ विधुन्मर्मरुतः स्वर्कै रथेभिर्यात ऋष्टिमद्भिरश्वपणैः। आ वर्षिष्ठया न इमा वयो न पप्तता सुमायाः।।**

(ऋग्वेद-1/88/1)

इसके अनन्तर अब यहाँ से अन्तरिक्ष स्थानीय देवगणों की व्याख्या की जाती है। उनमें मरुद्गण पहले आते हैं। ये मरुद् कम शब्द करने वाले, या विद्युत से कम चमकने वाले या महान अन्तरिक्ष में गति करने वाले होते हैं। उसके सम्बन्ध में यह ऋचा है-

हे मरुतो! विशिष्ट दिप्ति से युक्त अच्छी गति वाले या सुदीप्त या स्तुति युक्त जिनमें घोड़े जुते हुए हैं, शक्ति नामक आयुधों से युक्त रथों से अथवा रथ यहाँ पर मेघ है; कैसे मेघ विद्युतयुक्त अच्छी गति वाले या स्तुति से युक्त दुर्भिक्ष नाशक आकाश को आच्छादित करने वाले मेघों से युक्त होकर आओ। खूब बढ़े हुए अन्नों से संयुक्त होकर पक्षियों की तरह तेज गति से उत्तम कर्म वालों! तुम सब आओ।

अभ्यास प्रश्न - 3

1. मातरि अन्तरिक्षे श्वसिति व्युत्पत्ति है ?

   क. वायु की　　ख. मारुत की

   ग. वात की　　घ. मातरिश्वन् की

2. मातरिश्वन् देवता सम्बन्धित है?

   क. अन्तरिक्ष से　　ख. द्युलोक से

   ग. पृथिवी से　　घ. आदित्य से

3. वायु से सम्बन्धित सवन है?

   क. प्रातः सवन ख. माध्यमन्दिन सवन

   ग. सायं सवन घ. इनमें से कोई नहीं

4. वातेन च पर्जन्यः वचन है?

   क. निरुक्त में ख. वेद में

   ग. उपनिषद् में घ. इनमें से कोई नहीं

5. वान्ति पर्णशुषो वाताः - वचन है?

   क. दुर्गवृत्ति में ख. उपनिषद् में

   ग. ब्राह्मण में घ. वेद में

6. वात आवातु भेषजं शम्भु मयोभु तो हृदे। प्रण वांयूंषि तारिषत् - मन्त्र है?

   क. ऋग्वेद में ख. शतपथ में

   ग. गोपथ में घ. सामविधान में

7. मितराविणो कः?

   क. मरुतः ख. वायु

   ग. मातरिश्वन् घ. वात

8. प्राणाद् वायुरजायत् - मन्त्र है?

   क. ऋग्वेद में ख. कठोपनिषद् में

   ग. मुण्डक में घ. आरण्यक में

5.6 सारांश

अग्नि यज्ञ सम्पादक देवता है, यह पृथिवी स्थानीय, प्रातःकालीन यज्ञ से सम्बन्धित है, वसन्त ऋतु, गायत्री छन्द, त्रिवृत नामक स्तोम, रथन्तरनायक साम इससे सम्बन्धित है। इसका हवियों को ले जाना, देवताओं को यज्ञ में बुलाना और दृष्टि विषयक प्रकाश प्रदान करना है। जातवेदः मध्यमस्थानीय वैद्युताग्नि यह जल रूप ईंधन वाली है, वैश्वानर द्युलोकस्थ अग्नि है। मातरिश्वन् वायु है जो अन्तरिक्ष स्थानीय है । (यजुर्वेद संहिता परिशिष्ट-2/8) सामवेद संहिता परिशिष्ट 2/6 में वायु को जो सन्दर्भ मिलता है- वह है- "वैदिक देवताओं को तीन श्रेणियों में विभक्त किया गया है। (1) पर्थिव, (2) वायवीय और (3) आकाशीय। वायु का पर्याय वात भी है। ये दोनों भौतिक तत्त्व एवं दैवी व्यक्तित्व के द्योतक हैं। वायु से देवता और आँधी का बोध होता है। वात के तीन प्रकार के स्वरूप (1) धूल पत्ते उड़ाता हुआ, (2) वर्षाकार, (3) वर्षा के साथ चलने वाला झांझावात जबकि वायु का स्वरूप बड़ा कोमल है। प्रातः कालीन समीर (वायु) उषा के ऊपर सांस लेकर उसे जगाता है जैसे प्रेमी अपनी प्रेयसी को जगाता है। इन्द्र और वायु युगल देव का रूप धारण करते हैं। ऋषि जानते थे कि वायु ही जीवन का साधन है। स्वास्थ्य के लिए परमावश्यक है, जीवनी शक्ति को बढ़ाता है।"

5.7 शब्दावली

- अग्नि - जो आगे रहता है, यज्ञों में पहले लाया जाता है आदि
- जातवेदस् - उत्पन्न होने पर जाना जाता है- विद्युत
- वैश्वानर - सूर्य से उत्पन्न सौराग्नि
- मातरिश्वन् - अन्तरिक्ष में चलने वाला वायु

5.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

अभ्यास प्रश्न क्र. 1 - 1. क, 2. ग, 3. क, 4. घ, 5. घ, 6. ग, 7. ग, 8. घ।

अभ्यास प्रश्न क्र. 2 - 1. क, 2. ग, 3. क, 4. घ, 5. घ, 6. ग, 7. ग, 8. घ।

अभ्यास प्रश्न क्र. 3 - 1. क, 2. ग, 3. क, 4. घ, 5. घ, 6. ग, 7. ग, 8. घ।

5.9 सन्दर्भ-ग्रन्थ सूची

इस इकाई को लिखने में निम्न ग्रन्थों का सहयोग लिया गया है-

1. निरुक्तम्, यास्क - (टीकाकार) श्री छज्जूराम शास्त्री, पं. देवशर्मा शास्त्री, (हिन्दी व्यख्याकार) भागीरथ शास्त्री, मेहरचन्द लछमन दास पब्लिकेशन्स, अन्सारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली-110002
2. ऋग्वेद - (सम्पा.) पं. श्रीराम शर्मा आचार्य, संस्कृति संस्थान बरेली, संस्करण-2002
3. यजुर्वेद संहिता - (सम्पा.) पं. श्रीराम शर्मा आचार्य, भगवती देवी शर्मा, ब्रह्मवर्चस् शान्तिकुंज, हरिद्वार, उ. प्र., संस्करण- 1993
4. सामवेद संहिता - (सम्पा.) पं. श्रीराम शर्मा आचार्य, भगवती देवी शर्मा, ब्रह्मवर्चस् शान्तिकुंज, हरिद्वार, उ. प्र., संस्करण- 1994
5. वैदिक देवता : उद्भव और विकास - गया चरण त्रिपाठी, भारतीय विद्या प्रकाशन, दिल्ली, वाराणसी, संस्करण-1981

5.9 बोध प्रश्न

1. प्रस्तुत इकाई के आधार पर अग्नि देवता के विषय में लिखिए
2. वैश्वानर का संक्षिप्त परिचय लिखिए।
3. मातरिश्वन् का स्वरूप लिखिए।

ignou
THE PEOPLE'S
UNIVERSITY